सिद्धयोग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
राजयोगिराज अनन्तश्री
[illegible] जी महाराज

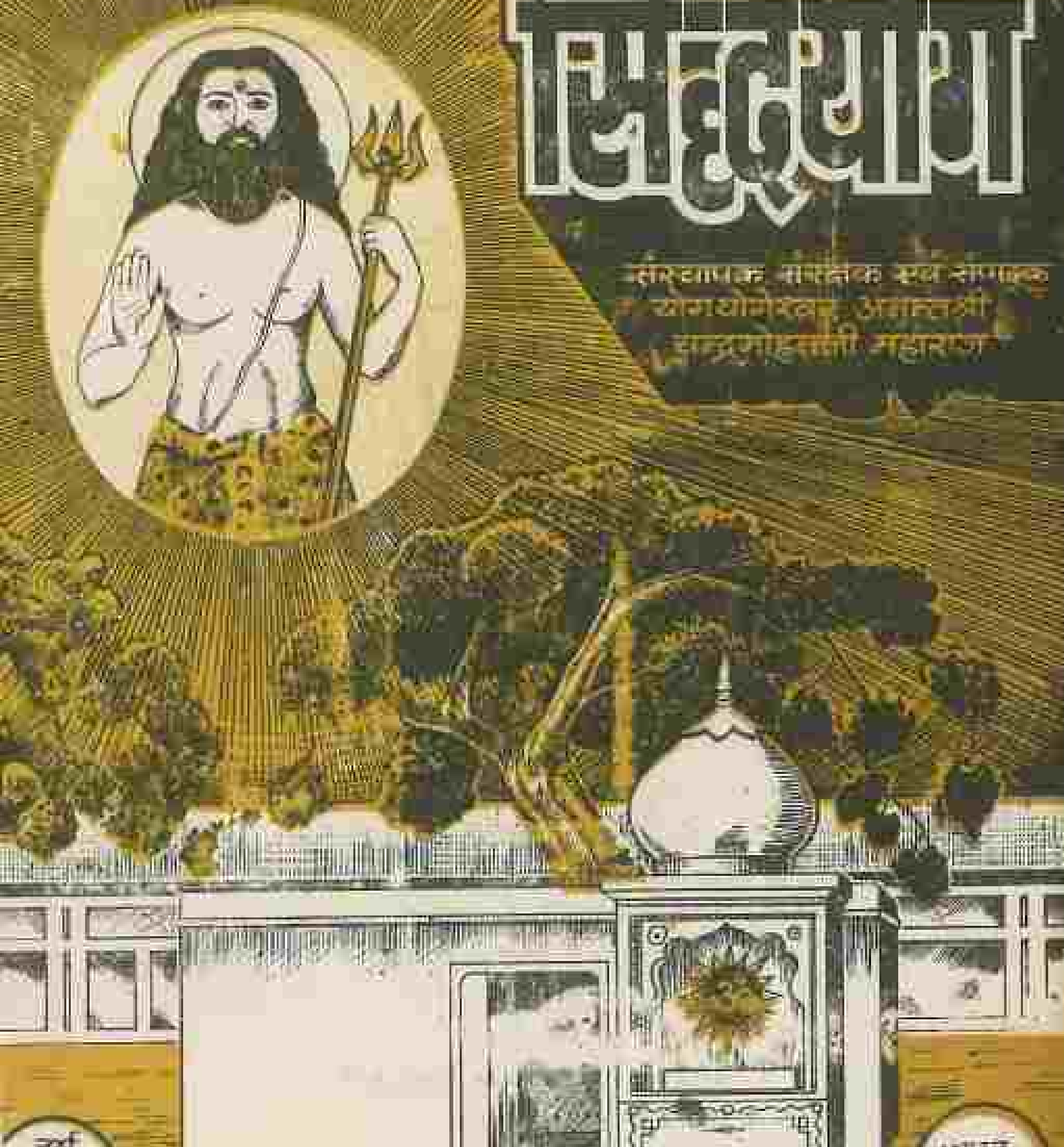

वर्ष २०
अंक ५

अगस्त
१९८७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

[illegible] सम्पादक
'दिव्य'

अगस्त
१९८७

❁ मिलावद्ध पद्मासनस्थ (प्रार्थना) १

❁ प्राणी और उसका तप (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❁ ध्यान क्यों ६
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

❁ आटोम-योग १२
श्री रामकृष्ण सिंघल

❁ ध्यान-लीला १७
श्री कर्मनारायण कपूर

❁ महात्मा यीशु सूली पर २०
डा० श्री विजयसिंह

❁ पर्ण-पुष्प-फल-तोयम् २४

❁ [illegible] आसन २९
श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'

❁ नन्दन्ति योगीश्वराः ३३
श्री दर्शनानन्द

❁ तीन कविताएँ ३५
श्री गोस्वामी तुलसीदास

❁ ध्यान एवं ज्ञान के भेद ३६
वैद्य श्री नारायणमिश्र शास्त्री

❁ भक्ति-एक वैज्ञानिक व्याख्या ३७
श्री राजेन्द्रबिहारीलालजी

❁ सम्बोधमन और अबोधमन ४०
श्री जे० कृष्णमूर्ति

❁ तद्भागपरमं मम् ४३
स्वामी निर्विकारानन्द सरस्वती

❁ महायोगी गुरु गोरखनाथ ४६
श्यामसुन्दर श्रो० 'प्रशान्त'

❁ ऋषिकेश आश्रम समाचार ४८

वार्षिक मूल्य ३० रुपया । इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २० | अङ्क ५ | अगस्त १९८७

ध्यायं ध्यायं यमिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवर्तो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविशदे योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

❁ शिला बद्ध पद्मासनस्य ❁

गङ्गातीरे हिमगिरि शिला बद्ध पद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वङ्गमङ्गे मदीये ॥

भावार्थ

क्या मेरे वे अच्छे दिन आवेंगे जब मैं गङ्गा के तट पर हिमालय पर्वत की चट्टान पर पद्मासन लगाकर बैठा रहूँ और ब्रह्म की चिन्ता करते-करते योग निद्रा को प्राप्त हो जाऊँ? और उस समय निर्भय होकर बूढ़े हिरण अपनी खुजलाहट मिटाने के लिए हमारे शरीर में अपने शरीर को रगड़ने के लिए आया करें।

—योगिराज भर्तृहरि

वाणी और उसका तप

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ऐसी वाणी बोलिए
मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै
आपहु शीतल होय ॥
—कबीर

सृष्टि के निर्माता ने मनुष्य को जो अनुपम और अमूल्य काय सम्पदा प्रदान की है उसमें वाणी का स्थान सर्वोपरि है। किन्हीं आचार्य के ये शब्द अक्षरशः सही है कि 'वाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य को दी गई एक बड़ी देन है, मनुष्य के चिन्तन का यह फलित है और चिन्तन का साधन भी वही है। चिन्तन के बगैर वाणी नहीं और वाणी के बिना चिन्तन नहीं तथा इन दोनों के अभाव में मनुष्य जीवन की भी कोई उपादेयता नहीं।'

'मननात् मनुष्यः' की उक्ति के अनुसार मनुष्य वही है जो मननशील और चिन्तन प्रधान होता है। और चिन्तन की अभिव्यक्ति बिना वाणी के नहीं हो सकती इसलिए वाणी का अपना महत्व है। मनुष्य इसके बिना जीवन की पूर्णता के आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता, और न संसार में रहकर वह अपना जीवन व्यवहार ही सुचारु रूप से चला पाने में समर्थ हो सकता है। इसलिए वाणी की इस अनुपम और अनोखी देन के लिए हमें विश्व-निर्माता का कृतज्ञ होना ही चाहिए। लेकिन हमारी यह कृतज्ञता प्रभुको तभी स्वीकार हो सकती है जब हम वाणी का सदुपयोग करके उसकी सार्थकता सिद्ध करते रहें। वाणी की यह सार्थकता उसके सत्यनिष्ठ होने में है। जो कुछ भी हम बोलें वह सत्य हो और सत्य के साथ-साथ प्रिय भी हो, इसका ध्यान हमें सदैव रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद भगवान् का भी यह स्पष्ट आदेश है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् हम सत्य बोलें। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि हमारा सत्य भाषण प्रिय हो, अप्रिय नहीं। अप्रिय सत्य बोलना वेद की उपरोक्त उक्ति के अनुसार, सत्यकी परिभाषामें नहीं आता। अखिलजगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द ने भी प्रकारान्तर से ऐसा ही परामर्श श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में अपने सखा अर्जुन को दिया है-अध्याय १७ में वे कहते है—

अनुद्वेग करं वाक्यं
सत्यंप्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव
वाङ्मयं तपउच्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! हमेशा इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वाणी से सत्य और हितकारी वचन ही निकले। कोई ऐसी बात किसी को मत कहो जो उसके मन को उद्वेलित और विचलित कर देने वाली हो। सदैव स्वाध्याय और चिन्तनशील बने रहकर ऐसी स्थिति को पा लेना ही तप कहा गया है।

वाणी का यह तप कैसे प्राप्त हो इसके लिए भगवान् ने उसे परामर्श दिया है कि मानस तप की साधना ही ऐसी स्थिति तुम्हें सहजतया प्राप्त करा देगी। इसी अध्याय के १६ वे श्लोक में मानस तप को परिभाषित करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं
मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो
मानस मुच्यते ॥१७/१६॥

यानी मन की प्रसन्नता या मन की परम शान्ति स्वच्छता, सौम्यता, मौन, अन्तःकरण का संयम होने पर वाणी का संयम भी सहज ही प्राप्त हो जाता है। आचार्य शङ्कर इसी सम्बन्ध में कहते हैं कि कार्य कारण न्याय के अनुसार मन के निगृहीत, सौम्य और शुद्ध हो जाने पर वाणी का तप अर्थात् सत्य और सर्वजन हितकारी वचन बोलने का अभ्यास सुलभ हो जाता है।

योग-दर्शन में तप का अपना महत्व है। वैराग्य और तप की साधना की वृत्ति को अपना लेने से ही साधक समाधि की ओर अग्रसर होता है। भगवान् पतञ्जलि ने तप की परिभाषा—'द्वन्द्व सहन तपः' शीर्षक सूत्र में वर्णित है। किसी लक्ष्य की साधना में साधक को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से गुजरने पर ये द्वन्द्व उसे विचलित न करें, लक्ष्य से उसे डिगा न सकें यही तप का स्वरूप है। वाणी के तप की साधना में भी ये द्वन्द्व कभी-कभी साधक को सत्यनिष्ठ नहीं बने रहने देते। आवरणों और विक्षेपों के रूप में ये उसकी लक्ष्य प्राप्ति में अवरोधक बनकर उसे पथ-भ्रष्ट करने की कोशिश करते हैं। जो इन अवरोधों से बाधित नहीं होता वही सत्य का परम उपासक माना जाता है। योगियों और योग-साधकों के लिए तो सत्यके व्रत की अव-धारणा अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य बताते हुए उसे यमों में शामिल कर दिया है। यथा—"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरि-ग्रहयमाः।"

—योगदर्शन सा०पा०-३०

अहिंसा और सत्य दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं सत्य वही होगा जो हिंसा रहित हो। जो हितकारी नहीं है, हिंसा रहित नहीं है-वह सत्य नहीं हो सकता। जो हित-सहित है वही सत्य है। हित भी किसी एक व्यक्ति का नहीं किन्तु बहुजन हिताय बहुजन सुखाय होना चाहिए। योगदर्शनकार भगवान् पतञ्जलि ने

योग-दर्शन के साधनपाद के सूत्र ३६ में ऐसे सर्वजन हिताय और बहुजन सुखाय सत्य की प्रतिष्ठापना का फल आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है। पढ़िये उनका सूत्र—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थात्—सत्य के प्रतिष्ठित होने पर वाक्य क्रिया फल के गुणों से युक्त होता है। इस सूत्र पर भगवान् व्यासदेव की व्याख्या इस प्रकार है—

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः; स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति; अमोघास्य वाग्भवति।

आशय यह है कि सत्य को प्रतिष्ठित कर लेने वाला साधक जिस किसी को जो भी वरदान देता है। वह सफल हो जाता है, यदि किसी को निरोगी हो जाने का आशीर्वाद दिया तो निश्चय ही उसके रोगादि दूर हो जाते है। लेकिन ऐसा होता तभी है जब योगारूढ़ साधक प्राण रक्षार्थ भी मिथ्या कहने का विचार मन से निकाल देते है और सर्वदा 'सत्यं च प्रियहितं च अनुद्वेगकरं वाक्यम्' बोलने के अभ्यासी हो जाते है।

सृष्टि संचालन में भी ऋत और सत्य ऐसे दो अटल स्तम्भ है जिन पर समूची सृष्टि का व्यापार चाहे वह आध्यात्मिक हो या व्यावहारिक चलता रहा है।

ऋतंञ्च सत्यञ्चाभीद्धा-
तपसोऽध्य जायत।
ततो रात्र्यजायत
ततः समुद्रो अर्णवः॥

इत्यादि, मन्त्र हमारे इस कथन का प्रमाण है कि समूची सृष्टि और उसका व्यापार सत्य और ऋत के आधार पर ही चल रहा है। हमारी शिक्षा-नीति का पहला पाठ भी "सत्यंवद धर्मं चर" से आरम्भ होता है। यदि सत्य नहीं है तो धर्म भी नहीं है। सत्य और धर्म दोनों एक दूसरे के आश्रित रहकर ही अस्तित्व में बने रहते है। वाणी सत्य से ही शोभित होती है, इसलिए सत्य को ही वाणी का भूषण बताया गया है।

यह भी प्रसिद्ध है कि योगदर्शन के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ही एक ऐसे पुरुष हुए है जिन्होंने चित्त शुद्धि के लिए योग सूत्रों का निर्माण किया। शरीर शुद्धि के लिये वैद्यक ग्रन्थों को लिखा और वाक् शुद्धि के लिए व्याकरण महाभाष्य बनाया। इन तीनों ग्रन्थों के एक ही लेखक पतञ्जलि महामुनि थे अथवा अलग-अलग यह ऐतिहासिक शोध का प्रश्न हो सकता है पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि व्याकरण महाभाष्य की रचना का उद्देश्य वाणी को शुद्ध रखना ही था।

अतः वाणी को शुद्ध बनाने के लिए हमें न केवल व्याकरण के नियम उपनियमों का ध्यान रखना आवश्यक है बल्कि यह भी आवश्यक है कि वाणी सदैव सत्यसे विभूषित रहे। यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्रों का दर्शन हमें पढ़ने को मिलता है जो हमें सत्य जीवनकी ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते है। "मन्त्र द्रष्टा ऋषि कहता है कि सत्य का मुख सदा मोहक हिरण्मयस पात्र से ढका

रहता है। इसलिए मनुष्य चाहते हुए भी सत्य धर्म का दर्शन नहीं कर पाता, इसलिए ऋषि प्रार्थना करता है कि हे प्रभु सत्य धर्म के दर्शन के लिए तु इस मोहक आवरण को हटा दे। ऋषि के शब्दों में पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण
सत्यस्यापिहितंमुखं।
तत्वं पूषन् अपावृणु
सत्यधर्माय दृष्टये॥

मन्त्र का आशय यही है कि सत्य को धारण करने का मार्ग तो कल्याणकारक है किन्तु उस तक पहुँचने में लोभ, मोह, मद आदि ऐसे आवरण हैं जो उस तक भी पहुँच नहीं होने देते—प्रभु कृपा से ही इन आवरणों का भंजन होता है, इसलिए पूषन्-परमात्मा से इन्हें हटाने की प्रार्थना की गई है। क्यों आवश्यक है सत्य की अवधारणा यह भी मन्त्र के अन्तिम भाग में "सत्य धर्माय दृष्टये"-पद के द्वारा बता दिया गया है। धर्म तत्व क्या है, कैसा है? यह बिना सत्य भाषण का व्रत लिये समझाये आ ही नहीं सकता। सत्य के व्रत के धारण की इसी महत्ता के कारण आचार्यों ने डंके की चोट यह घोषणा की है कि सत्य ही परमब्रह्म परमेश्वर है, सत्य ही नारायण है और सत्य ही देवाधिदेव महादेव है। 'न हि सत्यात्परो धर्मः'—ऐसा भी निर्विवाद रूप से आचार्यों का सर्व-सम्मत उद्घोष है। जो सत्य से अलग है, प्रतिकूल है, उसका विलोम है वही अनृत है, झूठ और मिथ्या है पाप है। सन्त कबीर ने भी अपने साधकों से इसीलिए कह दिया—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप॥

× × ×

योगका पथ तो सत्य का ही पथ है। बिना सत्य के जीवन में प्रतिष्ठित हुए योग समाधि सिद्धि का लाभ ले ही नहीं सकते। इसलिए समस्त योग-पथ पर चलने वाले साधकों से साथ ही अन्य लोगों से भी जो अपने जीवन व्यवहार को सुख और शान्ति के साथ व्यतीत करना चाहते हैं, हम यही परामर्श देंगे कि वे सत्य व्यवहार करने और सत्य बोलने के आचरण को प्राथमिकता देते हुये वाणी के तप को जो सत्य भाषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अपने दैनिक अभ्यास का अङ्ग बनालें। इसीमें उनके जग-जीवन का कल्याण निहित है।

भारतीय इतिहास में सत्य-धर्म को अपने सर्वस्व को समर्पित कर देने के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। राजा हरिश्चन्द्र को सत्य की रक्षार्थ ही अपना राजपाट छोड़कर श्वपाक के घर नौकरी करके अपने दिन गुजारने पड़े थे। अपने पिता के सत्य-व्रत की रक्षा के लिए ही राम को राजगद्दी का परित्याग करके वन जाना पड़ा था। भगवान कृष्ण का जीवन सत्य और धर्म के अभ्युत्थान के लिए ही संकलित था, जिससे सारा संसार आज भी प्रेरणा प्राप्त कर रहा है।

—:o:—

ध्यान क्यों ?

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम०ए०

योग के पाँच साधन बहिरङ्ग साधन हैं और तीन अंतरङ्ग साधन हैं। बहिरंग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार शरीर के बाह्य व्यापारों को व्यवस्थित करने के साधन हैं। विज्ञानभिक्षु ने योग सार-संग्रह नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि 'पंचाङ्गानां प्रायशो देह प्राणेन्द्रिय संस्कार रूपत्वात्।' उपरोक्त योग के पाँचों बहिरंग साधन—देह, प्राण, इन्द्रिय और संस्कार रूप हैं। धारणा, ध्यान, समाधि योगके आभ्यस चित्तके संस्कारों से सम्बन्धित अन्तरंग साधन हैं। असम्प्रज्ञात योग के लिए ध्यान और समाधि भी बहिरंग साधन हो जाते हैं अर्थात् ध्यान के द्वारा चित्त के संस्कारों का परिष्कार होता है। जो भी शुभाशुभ कर्म हम करते हैं, उनका सूक्ष्म रूप संस्कार के रूपमें चित्तमें संचित होकर हमारे प्रारब्ध को तैयार करता है। प्रारब्ध के फलस्वरूप हमारा जन्म-मरण, जाति, आयु और सुख-दुःखका भोग पैदा होता रहता है। बाहरी सारे उपाय पेड़ के पत्ते और शाखाओं को छू पाते हैं। ध्यानयोग के द्वारा संस्कार-चक्र के मूल का ज्ञान होता है और संचित संस्कार भोगोन्मुख बनाकर प्रारब्ध को शिथिल और सूक्ष्म बनाकर भोग-काल और भोग-देश को सीमित बनाया जा सकता है। प्रारब्ध का क्षय ध्यानयोग से ही होता है। इसका विस्तार से विवेचन आगे करेंगे।

ध्यान के द्वारा परम सत्ता का साक्षात्कार होता है। वैज्ञानिक उपायों से भौतिक पदार्थों की सत्ताका ही ज्ञान हो पाता है। देश, काल या ऊर्जा के स्वरूप का बोध होने से सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। ये भौतिक पदार्थ पौद्गलिक सत्तायें हैं। जितने भी पदार्थ दो के संयोग से बने हैं या आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धांत के दायरेमें आते हैं अर्थात् जिनका अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर करता है, वे सब भौतिक पदार्थ हैं। भौतिक पदार्थों के ज्ञान से सत्य का ज्ञान नहीं होता। वैज्ञानिकों को अणु और परमाणु तथा उसके विखण्डन से उद्भूत ऊर्जा का ज्ञान प्राप्त कर आविष्कारों के क्षेत्र में चमत्कार पैदा कर दिया, किन्तु फिर भी वे सत्य को नहीं जान पाये। अभी ब्रह्माण्ड उनके लिए रहस्य बना हुआ है। इन उपलब्धियों से वे जीवन में शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। जो सत्य को उपलब्ध हो जाता है, वह शान्ति-लाभ कर पाता है। ध्यानयोग द्वारा मन और प्राण की एकता स्थापित होती है, जिससे योगी प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त, कर्ता और भोक्ता की अनुभूति से मुक्त केवली व्याप्त सत्ता का अनुभव करता है। मिथ्या दृष्टि समाप्त होकर जीवन में सम्यक् दृष्टि का विकास होता है। सत्य के उपलब्ध होने पर हमारे दुःखों का आत्यन्तिक नाश होता है। सम्यक् दृष्टि और सत्यानुभूति परस्पर संबद्ध स्थिति है। गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में सम्यक् दृष्टि या सत्य को उपलब्ध होने की स्थिति का निरूपण है।

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टिः,
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—गीता २/५५

ध्यानयोग से चरम सत्ता आत्मा का बोध होता है, जिससे मन की सारी कामनायें—प्रियता और अप्रियता सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ विलीन हो जाती हैं और केवल शुद्ध ज्ञान रह जाता है। प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त होना ही भोक्ता-भाव से मुक्त होना और सत्य को जानना है। सत्य को जानने वाला ऋषि, आप्त और यथार्थ वक्ता होता है। उस स्थिति में पहुँचकर जब अस्मितानुगत समाधि में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है तो जो भी अनुभूति होती है, वह संवेदना रहित विशुद्ध सत्य की अनुभूति होती है। उस स्थिति में ही सिद्धान्त का निरूपण किया जा सकता है। वे सिद्धांत सब देश और सभी कालों के लिए सत्य होते हैं, बल्कि वे सिद्धान्त मानव मात्र का कल्याण करते हैं। ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त पूर्व ऋषियों ने शास्त्रोंमें जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है वे आज भी उतने ही सत्य हैं और आगे भी रहेंगे। आप्त-पुरुषों की भविष्यवाणी संवेदन रहित यथार्थानुभव पर आधारित होने पर सत्य घटित होती है। जो मन के दायरे में रहते हैं और अपने मनमाने ढंग से सिद्धान्त निरूपण या भविष्यवाणी कर देते हैं, वह समय की कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती। ऐसे लोग ही पाखण्डी कहे जाते हैं। योग-दर्शन के प्रमाण निरूपण प्रकरण में आगम प्रमाण के प्रसंग में व्यासदेव जी महाराज लिखते हैं—

शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते मूलवक्तरि तु दृष्टा-नुमितार्थो निर्विप्लवः स्यात्।

—योग-दर्शन १/७

तत्वदर्शी ऋषियों के अन्तःकरणमें समाधि अवस्था में जो ज्ञान शब्द रूप से उपस्थित हुआ, वह वेद आगम प्रमाण है तथा यथार्थ बोध प्राप्त ऋषियों के शब्द भी शब्द प्रमाण माने जाते हैं। जो ज्ञान यथार्थ बोध और यथार्थ दृष्टिसे समुद्भूत नहीं होता, वह मन-गढ़न्त बात झूठा पड़ जाता है। जो ऋत-म्भरा प्राप्त ऋषियों के अंतःकरण में सच्चि-दानन्द की वाणी का शब्द रूप ज्ञान प्राप्त होता है वह सदा सत्य होने के कारण मानव का कल्याण करता है। इसलिए कहा जाता है कि शास्त्र के निर्देशों का पालन करने में ही कल्याण है। शास्त्र को प्रमाण मानकर हिता-हित का निर्णय करना चाहिए—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

इस प्रकार सत्य का साक्षात्कार ध्यान के परिपक्व होने पर सम्प्रज्ञात समाधिमें समाधि की वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता-नुगत स्थितियों में मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा भूमिकाओं पर

क्रम से होता जाता है और धर्ममेघ-समाधि समाधि की पराकाष्ठा है, जहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है। इसे योग की भाषा में विवेक-ख्याति की अवस्था कहा जाता है। तंत्रों में इसे प्रसंख्यान स्थिति कहा गया है। संप्रज्ञात योग में प्रकृति का समस्त सत्य ज्ञात हो जाता है, यह सम्यक् ज्ञानकी अवस्था है। सम्प्रज्ञात की व्युत्पत्ति इसी अर्थ को उद्घटित करती है—

सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येय-मस्मिन् इति।

(नागोजी भट्टकृत योगसूत्र १/२ भाष्य)

नागोजी के मत में—विवेक-ख्याति की अवस्था में अनात्मतत्व का साक्षात्कार होने से उससे भी वैराग्य होकर असम्प्रज्ञात समाधि में सभी वृत्तियों का समूलोन्मूलन होता है और योग आत्मस्थ होकर पूर्ण सत्य में समाहित हो जाता है, निर्बीज समाधि यही होती है। निर्बीज का अभिप्राय है—

बीजस्य संस्कारस्य तत्वज्ञानपर्यन्त-शेषो वाहात्।

—(नागेश)

तत्वज्ञान होने तक बुद्धि में सतोगुण के जो संस्कार और प्रारब्ध कर्मों के भोग के संस्कारों का समूलोन्मूलन निर्विकल्प समाधि में हो जाता है, फिर सुख-दुःख, जन्म-मरण सबसे तलाक हो जाता है। इस तलाक को ही शास्त्रीय भाषामें मोक्ष कहा गया है। ज्ञान से प्रारब्ध कर्मों का भोग होने के पश्चात् मोक्ष होता है। कुम्हार जिस प्रकार अपने डण्डे से चाक को चला देता है तो डण्डे के हटाने के बाद भी जब तक उसमें डण्डे से घुमाने की शक्ति का संस्कार शेष रहता है, तब तक चक्र घूमता रहता है। इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान होने पर प्रारब्ध का जब तक क्षय नहीं होता तब तक शरीर धारण कर सुख-दुःख भोगना पड़ता है। लेकिन इस भोग में नया कर्माशय नहीं बनता। केवल प्रारब्धक्षय का निवृत्ति प्रधान कर्माशय बनता है और प्रारब्ध क्षय के साथ दीपक से रुई जलने पर दीपक भी जिस तरह शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के बाद सभी प्रकार के कर्म और संस्कार भोग नष्ट हो जाते हैं। गीता में भी कहा है—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।" —गीता ४/३७

अर्थात् ज्ञानाग्नि सभी कर्मोंको भस्म कर देती है।

ध्यान के द्वारा हमारी संवेदनायें शुद्ध हो जाती हैं। ध्यान के बिना हम जो कुछ देखते हैं, उसमें हमारे मन और बुद्धि के पूर्वाग्रह होते हैं। जैसे किसी व्यक्ति से मुलाकात करने से पहले ही उसके बारे में अपनी चित्त वृत्तियों और अपेक्षाओं और कामनाओं के अनुसार अपनी धारणायें बना लेते हैं कि वह बहुत दुष्ट है, या बड़ा धर्मात्मा है। वह तो जैसा होगा वैसा होगा। यह मिलने पर ही पता चलेगा किन्तु हमने पहले ही अपने मन की अच्छी बुरी वासना के अनुसार उस व्यक्ति को रंग कर देखना शुरु कर दिया और कई

और हम अपनी पूर्वधारणाओं से इतने चिपक जाते हैं कि उससे भिन्न किसी चीज को मानना ही नहीं चाहते। यदि यह मान लिया कि मुर्गीकी तीन टांगें होती हैं तो अपने अहंकार की रक्षा के लिए उसी प्रकार के तर्क जुटाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मुर्गी की दो नहीं तीन ही टांगें होती हैं। दो टांगें होने पर उसका बेलेंस बन ही नहीं सकता। तिपाही में तीन टांगें होती हैं तभी वह टिक पाती है। साइकिल में दो पहिये होते हैं अतः वह स्वतः खड़ी नहीं रह सकती, आदि-आदि तर्क देकर तीन टांगें दूसरे से भी मनवाना चाहते हैं। ध्यान के द्वारा हमारी संवेदना शक्ति-सूक्ष्म और राग-द्वेष रहित वस्तुनिष्ठ बनती है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वही दिखाई पड़े। जैसी वस्तु है, वैसा ही उसे जानना यथार्थ प्रमा है। ध्यान से प्रमा का विकास होता है। ध्यानयोग से व्यक्तित्व में प्रामाणिकता आती है। पहले हमारी संवेदना सूक्ष्म होती है और शनैः-शनैः संवेदना शान्त हो जाती है। जब तक संवेदना शान्त नहीं होती, तब तक हम सत्य स्वरूप ईश्वर के आत्मा के साम्राज्य में पदार्पण नहीं कर सकते। बहुत पढ़ लेनेसे हमें सत्यानुभूति नहीं होती। दूसरों के विचारों का चश्मा लगाकर उसी ढङ्ग से हम सोचने लगते हैं। पढ़ा हुआ ज्ञान उधार की पूंजी है। जब तक अपनी मूल पूंजी नहीं होती, तब तक आत्म-विश्वास नहीं जगता।

ध्यानयोग से कर्त्तापने और भोक्तापने का भाव शान्त हो जाता है। ध्यान से दृष्टाभाव, साक्षी-भाव विकसित होता है। बौद्ध लोग बर्मा में विपश्यना ध्यान-पद्धति से अपनी श्वास-प्रणाली को विशेष रूप से देखते-देखते साक्षी-भाव का विकास कर लेते हैं। साक्षी-भाव ऐसा भाव है कि उससे चित्त के संस्कार शिथिल हो जाते हैं। ध्यान से हृदय और श्वांस की गति भी कम हो जाती है। सभी इन्द्रियों का शिथिलीकरण होकर पूरे शरीर को ध्यान से पूर्ण विश्राम मिलता है, जिससे ताजगी और स्फूर्ति प्राप्त होती है। जब शरीर और मन पूर्ण स्वस्थ होते हैं तो साक्षी-भाव, दृष्टा-भाव उभरने लगता है। दृश्य और दृष्टा को अलग-अलग देखने से भ्रम से होतो है। साक्षी-भाव सँभलकर बैठने की सजगता की वह स्थिति है, जिसमें दृश्य को देखने पर जगत् के सभी व्यवहार करने पर भी कमल के पत्तेके जल की भांति निर्लिप्तता रहती है। जो दृश्य में लिप्त हो जाते हैं, उनका जीवन खुद तमाशा बन जाता है। किसी उर्दू के शायर ने साक्षी-भाव को सरल शब्दों में यों कहा है—

सम्भर बैठ गाफिल जल्वाये,
मुहब्बत चाहने वालो।
तमाशा खुद न बन जाना,
तमाशा देखने वालो॥

मन की दो प्रकार की वृत्तियां हैं—अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी। मन बहिर्मुख वृत्ति से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का भोग करता है, यही जीव-धर्म अहमिति मानां' है। पञ्चदशीकार विद्यारण्य स्वामी ने जीव के स्वरूप का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है—

अहमिति अभिमन्ता यः,
कर्त्ताऽसौ तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रियेऽन्तर्व-
हिर्वृत्ती कर्मोत्थिते ॥६

जीव अहंकार से अच्छा या बुरा व्यवहार करता है और तदनुसार फल भोगता है, वह बहिर्करण और अन्तःकरणों से कर्म करता है। पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अन्तःकरण हैं—

अन्तर्मुखेदमित्येषा वृत्तिः
कर्त्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्य
वस्तु इत्युल्लिखेत् ॥७

जब मन अन्तर्मुखी वृत्ति से कर्म करता है तो कर्त्ता भोगापन्न होकर अहंकारवश हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति कर्त्ता कभी कर्म कभी भोक्ता कभी भोग्य (Subject and object) को स्वानुभूति का विषय बनाती है। अन्तर्मुखी वृत्ति ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का विभाग विभिन्न इन्द्रियों द्वारा करती है। जैसे कान से शब्द का ग्रहण होना और नाक से गन्ध का ग्रहण। अहंकार वृत्ति से जीव कर्त्ता बनकर कर्म और क्रिया करते हुए भोक्ता बनकर विषयों को तदाकार वृत्ति बनाकर भोग करता है। जैसे विषय में यदि दुःखाकार वृत्ति बनी तो दुःखका भोग हुआ। इस प्रकार पदार्थाकार और विषयाकार वृत्ति ही भोक्ता की क्रिया (भोग) है। अहंकार इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोक्ता है। भोक्ता-भोग्य और भोग तथा कर्त्ता, कर्म और क्रिया इन तीनों को जो प्रकाशित करता है, वह साक्षी कहलाता है। ध्यान के द्वारा इसी साक्षी-भाव की उपलब्धि होती है। साक्षी-भाव की पूर्णता सम्यक्-ज्ञान है। जब साधक साक्षी-भावको उपलब्ध हो जाता है तो उसके सम्मुख दृष्टा और दृश्य के अलग-अलग विभाग स्पष्ट होने लगते हैं, उससे पूर्व दृष्टा और दृश्य मिला-जुला एक रूप लगा करता है, यह भ्रम है। रस्सी और सर्प जो अलग सत्ता है, किन्तु जब दोनों एक ही अधिष्ठान में मिलकर एक में दूसरे का आरोप हो जाता है तो यही भ्रान्ति-दर्शन और दुःख का कारण होता है। जब ध्यान द्वारा दृष्टा-भाव का विकास होता है, तो साधक कर्त्ता-कर्म और क्रिया की त्रिपुटी को जानकर अपने स्वरूप की ओर चल पड़ता है, उसके जीवनमें वैराग्य उतरने लगता है। उसमें अकर्त्ताभाव और अभोक्ता, दृष्टा-भाव आने लगता है। गीता में भगवान कृष्ण ने अकर्त्ता-भाव की स्थिति का निरूपण किया है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि
क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानम-
कर्तारं स पश्यति ॥

—गीता १३/२९

अर्थात् प्रकृति अपने गुणों तथा बुद्धि, मन, चित्त, अहङ्कार, इन्द्रियों तथा महाभूतों से सारे कार्य कर रही है। इस प्रकार साक्षात्कार कर लेने पर योगी अकर्त्तृत्व भावापन्न होकर

निष्प्रपंच, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण आत्मा को देखने में समर्थ होता है।

ध्यानयोग के अभ्यास से योगी नृत्यशाला (रंगशाला) के दीपक की भाँति तटस्थ हो जाता है।

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि,
स्वादयामि स्पृशामि अहम् ।
इति भासयते सर्वम्,
नृत्यशालास्थ दीपवत् ॥

—पञ्च० १०/९

अर्थात् मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, सूँघता हूँ, स्वाद लेता हूँ, स्पर्श करता हूँ। इस प्रकार साक्षी चिदाभास ही अहंकार के माध्यम से विषयों को प्रकाशित करता है और भोग सम्पन्न कराता है। जैसे नृत्यशाला में जलता हुआ दीपक सब नाटक का साक्षी और प्रकाशक होता है वैसे ही साक्षी चेतनाभास अहंकार को भासित करता है। जब हम यह कहते हैं या अनुभव करते हैं—मैं देख रहा हूँ, तो उस समय मैं द्रष्टारूप से कर्त्ता है और देखना क्रिया है तथा वस्तुरूप दृश्य है। इस मैं को भी देखने वाला साक्षी परमात्मा है। उसी ने दृश्य और दर्शन को प्रकाशित किया है। दर्शन क्रिया है, न होकर होने का नाम क्रिया होता है। जब ध्यान की सीढ़ी पकड़ कर योगी समाधि के शिखर पर चढ़कर संयम के बल से जड़ और चेतन को अलग-अलग देखने लगता है और अपने में छिपे हुए चेतन का अहसास करता है, तो उसके पूर्वाग्रह शिथिल पड़ते हैं। वह वस्तु का यथार्थ द्रष्टा बनता है। पूर्वाग्रह युक्त व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से वस्तु को देखा करता है। जैसे कहीं दुर्घटना हो जाय तो पुलिस का व्यक्ति देखेगा कि किस दफा के अन्दर कौनसा जुर्म बना और मुल्जिम कौन है। एक रास्ता चलता व्यक्ति घायल के प्रति सहानुभूति रखेगा। उसका प्रिय उसे तुरन्त अस्पताल में ले जाना चाहेगा। दृष्टिकोण भेद से क्रिया-भेद और व्यवहार-भेद हो जायगा। अब दृश्य से अलग तटस्थ रहकर दृश्य को देखा जाय तो यही साक्षी-भाव है। इस भाव की साधना से ही आत्म-साक्षात्कार होता है।

लाजिम खुदी का होना,
बे खुदी के साथ।
उसको खुदा की खबर,
जिसको खुद की खबर नहीं॥

उस परमात्मा द्रष्टा की दृष्टि (ज्ञान) कभी नष्ट नहीं होती, क्योंकि वह अविनाशी है, उसका ज्ञान क्रिया नहीं है। जो न हो वह हो जाय—यह क्रिया का लक्षण है, किन्तु परमात्मा में ज्ञान नित्य है। कभी ऐसा नहीं होता कि वह ज्ञान न हो। ध्यान द्वारा परमात्मा की दृष्टि अर्थात् उसका ज्ञान मिलता है, उसकी कृपा मिलती है।

नृत्यशाला में स्थित दीप-मालिक, नाटक के पात्र तथा दर्शक सबका प्रकाशक होता है और सबको एक-जैसा प्रकाशित करता है। भेद-भाव नहीं करता। उन सबके हट जाने पर उनके अभाव को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार साक्षी चेतन इस सृष्टि के नाटक का प्रकाशक है—

योग के अनमोल बोल

(१) वैराग्य ही मनुष्य को सच्चिदानन्दमय भगवान् तक ले जाने का मुख्यतम साधन है और भाष्यकार 'व्यास' के कथनानुसार—''ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्'' उसका लक्षण है।

(२) जब तक जगत् की 'जड़ या चेतन' किसी वस्तु में मोह-राग-आसक्ति बनी है अथवा बनी रहेगी, समझलो! जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता।

(३) सर्व प्रथम निकटतम निज देह को देखो-विचारो-अनुशीलन करो—

क—'चेतन' के बिना क्या यह चर्म-मढ़ा रुधिर-मांस-मज्जा अस्थियों का ढेर नहीं है?

ख—इसी के कारण क्या दुःखदायी स्वार्थी सम्बन्धी नहीं मिले हैं?

ग—क्या तुम 'सुख-उपभोग कामना' तथा वासनाओं की तृप्ति के लिए ही देह से मोह-ममता-अनुराग नहीं रखते?

घ—ध्यान दो! तुम्हारे कर्म-बीज 'संस्कारों' ने ही तो उन नर-नारी के वासना-तन्तुओं से निर्मित यह कलेवर तुम्हें ओढ़ाया है, जिनमें कि तुम्हारा अनुराग था।

ङ—पिछला 'ऋण' चुकाते हुए आगे 'उधार' मत लो। नहीं तो फिर बँधोगे।

(४) पुनः-पुनः देखो और निरन्तर विचारो! कि तुम जीना क्यों चाहते हो? इस 'काया' को क्यों बनाये रखना चाहते हो? किस 'अजर-सुख-प्राप्ति' तथा दुःख-मोचन-कामना' से यह सब दौड़-धूप हो रही है।

(५) क्लेश के स्रोत 'संसारी-विषय, संसारी-कर्म, संसारी-ज्ञानार्जन' में चित का 'अनुरक्त' रहना बन्धन का मूल-कारण है; इस 'अविद्या या माया' से चित्त को सदा अछूता रखने का यत्न करो।

(६) ध्यान की तीव्रतम 'विवेक-दृष्टि' से देखो। विषयों में क्या किसी प्रकार का 'सुख है भी'? अथवा यह मानसिक-परिकल्पना-मात्र 'विपर्यय या भ्रम' ही है?

—सिद्धयोगी श्री सियाराम

नृत्यशालां स्थितो दीपः,
प्रभु सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेद् विशेषेण,
तदभावेऽपि दीप्यते ॥

—पंचदशी १०/११

ध्यानयोग के साधक की स्थिति नाटक के दीपक की भाँति हो जाती है। उसमें सबको समान रूप से पक्षपात रहित होकर देखने की सामर्थ्य आती है। 'शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।' कुत्ते और चांडाल में सम्यक् दृष्टियुक्त योगी की समत्वबुद्धि होती है।

• अष्टांग-योग •

❀ श्री रामकृष्ण सिंघल

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधि की सिद्धि के लिए यम-नियमों के पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमों का पालन किये बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार की वृत्तियों के नष्ट हुए बिना चित्त का एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधि की इच्छा वाले पुरुषों को योग के आठों ही अंगों का साधन करना चाहिए, किन्तु यम और नियमों का पालन तो अवश्यमेव करना चाहिए। जैसे नींव के बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमों के पालन किये बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव सा है। यम-नियमों में भी जो पुरुष यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन करना चाहता है, उससे नियमों का पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता। जो पुरुष योगके आठों अंगों का अच्छी प्रकार से साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होने पर ज्ञान की अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहने वाला पुरुष तो क्लेश और कर्मों से छूटकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योग के आठ अङ्ग ये हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं।' इन आठ अङ्गों की दो भूमिकायें हैं—(१) बहिरंग, (२) अन्तरंग। ऊपर बतलाये हुए आठ अंगोंमें से पहले पाँच को बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेष तया बाहर की क्रियाओं से ही सम्बन्ध है। शेष तीन—धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से होने के कारण इनको अन्तरंग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने एक साथ इन तीनों को 'संयम' भी कहा है—

अब इन आठों अंगों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

(१) यम—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों का नाम यम है।'

(क) किसी भूत प्राणी को या अपने को भी मन, वाणी, शरीर द्वारा, कभी किसी प्रकार, किंचित मात्र भी कष्ट न पहुँचाने का नाम 'अहिंसा' है।

'अहिंसारूपी महाव्रत के पूर्ण पालन होने पर उस योगी के समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखने वाले) प्राणी भी वैर का अर्थात् हिंसावृत्ति का त्याग कर देते हैं।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया हो, हित की भावना से, कपट-रहित प्रिय शब्दों में वैसा का वैसा ही प्रकट करने का नाम 'सत्य' है।

सत्य के अच्छी प्रकार पालन से उस

सत्यवादी की वाणी सफल हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है, वही सत्य हो जाता है।

(ग) मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना 'अस्तेय' है।

चोरी की वृत्ति का सर्वथा त्याग हो जाने पर उसे सब रत्नों की उपस्थिति हो जाती है अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्ण रूप से विश्वास करने लग जाती है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले काम-विकार के सर्वथा अभाव का नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

ब्रह्मचर्य का अच्छी प्रकार से पालन होने पर शरीर, मन और इन्द्रियों में अत्यन्त सामर्थ्य की प्राप्ति हो जाती है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि किसी भी भोग सामग्री का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

अपरिग्रह के स्थिर होने पर यानी विषय-भोग पदार्थों के संग्रह का भलीभांति त्याग होने पर वैराग्य और उपरति होकर मन का संयम होता है और मनः संयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मों का और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है।

इन पाँचों धर्मों का किसी देश, काल अथवा समय में, किसी जीव के साथ, किसी भी निमित्त से हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि का आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

(२) नियम—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं।

(क) पवित्रता दो प्रकार की होती है—(१) बाहरी और (२) भीतरी। जल-मिट्टी से शरीर की, स्वार्थ-त्याग से व्यवहार और आचरण की तथा न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्विक पदार्थों के पवित्रता पूर्वक सेवन से आहार की, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणों के त्याग से भीतरी पवित्रता होती है।

पूर्णतया बाहरकी पवित्रता से अपने अङ्गों में घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्ग का अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीर में अरुचि हो जाने से उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा सर्वदा संतुष्ट-प्रसन्न चित्त रहने का नाम 'सन्तोष' है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

(ग) मन और इन्द्रियों के संयम-रूप धर्म पालन करने के लिए कष्ट सहने का और तितिक्षा एवं व्रतादि का नाम 'तप' है।

तप से मल-दोष अर्थात् पापों का नाश हो जाने पर, अणिमादि अष्ट-काया की सिद्धियाँ और दूर से देखना-सुनना आदि इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रों का अध्ययन और इष्टदेव के नाम का जप तथा स्तोत्रादि का

पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करने का नाम 'स्वाध्याय' है।

अपने इष्टदेव के नाम जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमादि के पठन-पाठन, श्रवण-मनन रूप स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात् दर्शन हो जाता है।

(ङ) ईश्वर की भक्ति अर्थात् मन, वाणी और शरीर द्वारा ईश्वर के लिए ईश्वर के अनुकूल ही चेष्टा करने का नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। उपर्युक्त यम और नियमोंके पालन में 'हिंसादि वितर्कों से बाधा होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।' हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान रूप फल के देने वाले हैं, इस प्रकार की बारम्बार भावना करने का नाम 'प्रतिपक्ष भावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोग पदार्थों का संग्रह, अपवित्रता और असन्तोष की वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के विरोध की वृत्ति इनका नाम वितर्क है।

(३) आसन—आसन अनेकों प्रकार के हैं। उनमें से आत्म-संयम चाहने वाले पुरुष के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन-ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमें से कोई सा भी आसन हो, परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवा को सीधा अवश्य रखना चाहिए और दृष्टि नासिकाग्र पर अथवा भृकुटी में रखनी चाहिए। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसन से जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिए उत्तम आसन है। सुखपूर्वक स्थिरता से बहुत काल तक बैठने का नाम आसन है। शरीर की स्वाभाविक चेष्टा के शिथिल करने पर अर्थात् इनसे उपराम होने पर अथवा अनन्त परमात्मा में मन के तन्मय होने पर आसन की सिद्धि होती है। कम से कम एक पहर यानी तीन घण्टे तक एक आसन से सुखपूर्वक स्थिर और अचल भाव से बैठने को आसन-सिद्धि कहते हैं।

(४) प्राणायाम—आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना है और भीतर की वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनों के रुकने का नाम प्राणायाम है। देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्ध से बाह्य, आभ्यान्तर और स्तम्भ वृत्ति वाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतर के श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। बाहर के श्वास को भीतर खींचकर भीतर रोकने को 'आभ्यान्तर कुम्भक' कहते हैं। बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणों के रोकने का नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।

बाह्य और भीतर के विषयों के त्याग से होने वाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है। शब्द-स्पर्शादि जो

इन्द्रियों के बाहरी विषय हैं और सङ्कल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरण के विषय हैं, उनके त्याग से—उनकी उपेक्षा करने पर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करने पर प्राणोंकी गति का स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है। पूर्व सूत्र में बतलाये हुए प्राणायामों में प्राणों के निरोध से मन का संयम से प्राणों का संयम है। यहाँ प्राणों के रुकने का कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है। जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्या का भी विधान नहीं है।

प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक-ज्ञान को आवृत करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन स्थिर होकर उसकी धारणाओं के योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

(५) प्रत्याहार—अपने-अपने विषयों के सङ्ग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर प्रत्याहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान नहीं रहता। व्यवहार के समय बाह्य ज्ञान होता है, क्योंकि व्यवहार के समय साधक शरीर-यात्रा के हेतु से प्रत्याहार को काम में नहीं लगाता। अन्य किसी साधन से यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियों का निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है। उस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(६) धारणा—योगके आठ अङ्गों में पाँच बहिरङ्ग साधनों का वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनों का वर्णन इस प्रकार है—इनमें प्रथम धारणा का लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणा से ध्यान और समाधि होती है। यह योग का छटा अंग है।

चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यान्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

(७) ध्यान—उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकता का नाम ध्यान है अर्थात् चित्तवृत्ति का गंगा के प्रवाह की भाँति या तैल-धारावत् अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

(८) समाधि—वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है। जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है और अपने स्वरूप के भान का अभाव सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार को प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है। ध्येय से भिन्न अपने आप का ज्ञान उसे नहीं सा रह जाता है, उस स्थिति का नाम 'समाधि' है। ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधि में केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येय वस्तु ही रहती है अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों की एकता सी हो जाती है।

स्वप्न-लीला

श्री कर्मनारायण कपूर

निद्रा की वह अवस्था स्वप्न कहलाती है जिसमें व्यक्ति किसी दृश्य व घटना का चित्र देखता है अथवा किसी कर्म करने का अनुभव करता है। स्वप्न का वास्तविक रूप नहीं होता है, वह सर्वथा काल्पनिक होता है। स्वप्न में उपलब्ध वस्तु जाग्रत अवस्था में अदृश्य हो जाती है।

२. यह तो निर्विवाद है कि स्वप्न का देखने वाला आत्मा होता है। आत्मा का प्रमुख करण मन है जो बहुत चञ्चल है। इस के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता, यह स्मृति का भण्डार है (यजु० ३४।३)। मन अथवा चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण=यथार्थ ज्ञान, विपर्यय=मिथ्याज्ञान, विकल्प=कल्पित वस्तु का ज्ञान, निद्रा=सोना तथा स्मृति=पूर्व में देखी व सुनी वस्तु का स्मरण (योगदर्शन १।२।६)। स्पष्ट है कि स्वप्न में इन पाँचों वृत्तियों का खेल होता है। मन द्वारा ही स्वप्न की लीला रची जाती है और आत्मा उस लीला का द्रष्टा होता है।

३. कई विद्वानों का मत है कि ईश्वर स्वप्नों को रचता है। यह मत मानने योग्य नहीं क्यों कि ईश्वर सर्वज्ञ और विवेकी है। वह किसी अवस्था में असत्य, भ्रांत, विवेक-हीन, निरर्थक, तथ्य रहित तथा भयानक दृश्यों को रच कर आत्मा को विचलित नहीं कर सकता है।

४. अन्य विद्वानों की धारणा है कि आत्मा स्वयं ही स्वप्न का कर्त्ता है। यह धारणा इस लिए अशुद्ध है कि जिस प्रकार नाटक करने वाला और नाटक देखने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं इसी प्रकार स्वप्न कर्त्ता और स्वप्न द्रष्टा एक नहीं हो सकता है। अपरंच ज्ञानवान आत्मा अज्ञानी बन मूर्खता के कार्य

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थ में होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थ में होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थों में होनेसे तो सिद्धि प्रद होती है, जोकि अध्यात्म विषय में हानि-कर है और यही समाधि ईश्वर-विषयक होने से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिए कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए। इसमें परिपक्वता होने पर अर्थात् उपर्युक्त योग के आठों अङ्गों के भलीभाँति अनुष्ठान से मल और आवरणादि दोषों के क्षय होने पर विवेकख्याति-पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है और उस विवेकख्याति से अविद्या का नाश होकर कैवल्य पद की प्राप्ति यानी आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

समाधिपर्यन्त अष्टांग योग का यह अर्थ महर्षि पतंजलि के सूत्रों पर आधारित भावों के विवेचन का संकलन है। इसका असली तात्पर्य या तो महर्षिपतंजलि जानते हैं अथवा परमपूज्य अनन्त योग-योगेश्वर श्री सद्गुरुदेव जी महाराज! पाठकगण इसे पढ़कर मेरी त्रुटियों को क्षमा करेंगे।

नहीं कर सकता है। राजा की आत्मा को ज्ञान है कि वह राजा है वह स्वप्न में निर्धन अथवा पगू होने का अनुभव नहीं कर सकता है।

४. वेदों तथा उपनिषदों में स्वप्न ज्ञान का दिग्दर्शन निम्न रूप में उपलब्ध होता है—

(क) हे स्वप्न ! वरुणानी तेरी माता है और यम तेरा पिता है (अथर्व० ६।४६।१) कई पौराणिक विद्वान् वरुणानी को वरुण देवता की पत्नी मानते हैं। यदि वरुणानी वरुण की पत्नी हो तो स्वप्न का पिता वरुण होना चाहिये न कि यम। इसलिये यह धारणा पूर्णरूप से अशुद्ध है। इस मन्त्र में वरुणानी रात्री और यम दिन के द्योतक हैं। स्वप्न रात को देखा जाता है अतः रात्री अथवा वरुणानी स्वप्न की माता है और दिन में इन्द्रियाँ जिन दृश्यों को देखती अथवा कार्यों को करती हैं उन का प्रतिबिम्ब स्वप्न में मिश्रित व विकृतरूप में चित्रित होता है, अतः यम अथवा दिन स्वप्नों का पिता कहा गया है।

(ख) यह आत्मा स्वप्न में महिमा का अनुभव करता है, जो देखा है, जो देखा नहीं उसका अनुभव करता है, जो सुना है, जो सुना नहीं है वह सुनता है; जो सत्य है और जो असत्य है उसको देखता है (प्रश्न० उप० ४-५)।

(ग) स्वप्नावस्था में रथ नहीं होते, घोड़े नहीं होते, सड़कें नहीं होती, वहाँ आनन्द नहीं होता, मोद नहीं होता, प्रमोद नहीं होता, तालाब नहीं होते, झीलें नहीं होती, नदियाँ नहीं होती किन्तु मन उन सबको रच लेता है (बृहदारण्यक उप० ४।३।१०)।

स्वप्न लोक में ऊँच और नीच से गुजरता है। अनेकों रूपों को देखता है, कभी स्त्रियों के संग आमोद-प्रमोद करता है। कभी बन्धु-बान्धवों के संग हँसता खेलता है और कभी भयानक दृश्यों को देखता है (वहीं ४।३।१३)।

यह (आत्मा) अपने शरीर-रूपी घोंसले की रक्षा का भार प्राण को सौंप कर स्वयं घोंसले के बाहर इच्छा पूर्वक घूमा करता है। (वहीं ४।३।१२)।

५. स्वप्न एक प्राकृतिक दृश्य है, जिसका अनुभव प्रायः सब व्यक्तियों को हुआ करता है। विरले विरक्त जन ही इसके मायाजाल से बाहर रहते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मन में अनेक अपूर्ण तथा दबी हुई इच्छाएं पड़ी रहती हैं, जिनकी पूर्ति का आभास स्वप्न में हो जाया करता है। स्वप्न तो एक प्रकार का सेफ्टी वाल्व (Safety Valve) है जो मन में संचित अनावश्यक इच्छाओं का निर्गमन कर देता है। इसके अतिरिक्त स्वप्न कुछ अंश तक निम्न प्रयोजनों को सिद्ध करता है—

(क) आत्मा के शुभ सङ्कल्पों का आमोद तथा प्रमोद द्वारा सुख प्रदान करना।

(ख) आत्मा के अशुभ सङ्कल्पों का भयानक दृश्यों द्वारा दुःख प्रदान करना।

(ग) भविष्य में होने वाली घटनाओं का संकेत करना। इस तथ्य के तीन प्रमुख उदाहरण हैं—

१. अमरीका के प्रधान लिंकन का शव रखने वाले सन्दूक का देखना तथा रक्षा करने वाले सिपाहियों द्वारा कहना कि प्रधान की मृत्यु हुई है। इस स्वप्न के एक सप्ताह पश्चात् प्रधान लिंकन की हत्या हुई।

२. रुडयार्ड किपलिंग ने स्वप्न में अपने आप को एक विशाल हाल में पाया। पीछे से आकर किसी व्यक्ति ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा, श्रीमान् जी मैं आप से कुछ बात करना चाहता हूं। यह स्वप्न तब सत्य हुआ जब किपलिंग युद्ध स्मारक सम्मेलन के अवसरपर वैस्ट मिन्सटर ऐबे में गया और एक ने पीछे से आकर उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा—श्रीमान् जी ! मैं आप से कुछ बात करना चाहता हूं। किपलिंग अपनी जीवन गाथा में लिखता है क्यों और किसलिए मुझे अपने जीवन के अप्रकाशित चलचित्र की झांकी दिखाई गई।

३. एक यात्री ने इंग्लैण्ड के विख्यात समुद्री जहाज टिटानिक में अपनी सीट आरक्षित कराई। उसी रात को उसने स्वप्न में टिटानिक को डूबते देखा। यह स्वप्न दूसरी तथा तीसरी रात को उसे पुनः दिखाई दिया। उसने अपनी सीट रद्द करवा ली। टिटानिक कई दिनों के पश्चात समुद्र में डूब गया।

(घ) किसी गूढ़ समस्या के समाधान का संकेत होना। एक व्यक्ति को स्वप्न में एक समस्या का समाधान मिल गया जिस पर वह कई दिनों से मत्थापच्ची कर रहा था।

(ङ) किसी गुप्त रहस्य का संकेत मिलना एक विधवा स्त्री को स्वप्न में उसके मृत पति ने बताया कि उसने तीस हजार रुपया अमुक बैंक में जमा कराया हुआ है, जिस की जानकारी केवल उसे ही है। विधवा ने उस बैंक में जाकर पूछा तो स्वप्न की बात सत्य निकली। बैंक वालों ने उत्तराधिकारियों को धन प्रदान कर दिया। यह एक सच्ची घटना है। इससे मिलती-जुलती घटना का उल्लेख सरदार दीवान सिंह कृत त्रिवेणी में भी मिलता है।

(च) पूर्व जन्मों के कतिपय दृश्यों का दिग्दर्शन करना—कई स्वप्न ऐसे होते हैं जिनके दृश्यों तथा घटनाओं का अनुबन्ध वर्तमान जन्म के कार्यों तथा परिस्थितियों के साथ नहीं हो सकता। ऐसे स्वप्न पूर्व जन्मों से सम्बन्धित होते हैं। (अथर्व० ४।४८।१) में उधर्वस्वप्ना वृक्षाः इस तथ्य का द्योतक है क्योंकि वर्तमान जीवन में वृक्षों ने कोई कार्य नहीं किया होता जो स्वप्न का आधार बन सकें। अपरंच यह साधारण अनुभव है कि नवजात शिशु के मुख पर कुछ सप्ताह पर्यन्त कभी विलक्षण मुस्कराहट और कभी-कभी क्लेश के चिन्ह दिखाई देते हैं। इस जन्म में उसे कोई ऐसे संस्कार नहीं प्राप्त हुए होते जो इनका कारण बन सकें। न्यायदर्शन के सूत्रकार का कथन है कि शिशु की पूर्व जन्म की स्मृतियां ही उसके मुस्कराहट तथा क्लेश का कारण होती है जो स्वप्न के रूप में प्रकट होती है।

कई विद्वानों का मत है कि इस जन्म तथा पूर्व जन्मों के अचेतन मन पर पड़े हुए संस्कारों की स्मृति-छाया स्वप्न के रूप में दिखाई देती है। प्रायः स्वप्न मन की स्वाभाविक चंचलता का चित्र होता है।

सिद्धयोग के अनुवर्ती—

महात्मा यीशु शूली पर

❀ डा० श्री विजयसिंह

गहना कर्मणा गतिः ।

कर्मों का फल अत्यन्त गहन हुआ करता है। कभी-कभी होम करते हाथ जलने वाली कहावत भी चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है। सन्तों-सिद्धों की तमाम कथाओं में एक अटल विरोधाभास मिलता है। जिन्होंने अपने सारे जीवनमें एक से एक बढ़कर अलौकिक घटनायें घटित कीं—अन्धों को आँखें दीं, मुर्दों को जीवित किया, नाना व्याधियों को उपशमित किया, परन्तु जीवन के अन्त में वे स्वयं किसी न किसी व्याधि अथवा दुर्दैव पीड़ा से पीड़ित रहे। योगेश्वर श्रीकृष्ण को व्याध द्वारा विषयुक्त बाण लगने की घटना, बुद्ध की उदरशूल सहित महा-निर्वाण प्राप्त होना, स्वामी रामकृष्ण परमहंस अन्तिम कालमें नासूर से पीड़ित रहे, महात्मा तुलसीदास भी अन्त समय शरीर के व्रण से पीड़ित रहे। इस प्रकार के तमाम जीवन-चरित्रों के पढ़ने पर यह विरोधाभास सर्वत्र दिखाई पड़ता है। युग-प्रवर्तनकारी महापुरुषों तथा सिद्धोंको भी प्रकृति-विरोध, दुःख प्राप्त होता रहता है। यद्यपि वे संसारी मनुष्यों की तरह इन दुःखों से लवलेश-मात्र भी अभिभूत नहीं होते हैं। उनकी सर्वज्ञता तथा समाधि-जनित आनन्द दुःखों का प्रतिकारक तत्व बन जाया करता है।

यहाँ दुःख मनुष्य को कितने प्रकार से प्राप्त होते है, इस पर थोड़ा और विस्तार से विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। अस्तु—कष्टों का वास्तविक रूप क्या है? भगवान् पतंजलि ने योग-दर्शन में बताया है—

परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

—योग-दर्शन २/१५

पहला दुःख परिणाम दुःखता है—इन्द्रियों के भोगों के परिणाम से उत्पन्न दुःख। राग-द्वेष-कामाभिघात से उत्पन्न मानस दुःख को ताप दुःखता कहा गया है। "चलं हि गुण वृत्तं" समय सबका एक समान नहीं रहता तथा सुखकाल का दुःख काल में स्मरण होता ही है; यह दुःख संस्कार दुःख कहा गया है। जीवन-पर्यन्त असाध्य व्याधिकी पीड़ा (कुष्ठ-तपेदिक अन्धत्व आदि) सहज दुःखता बताया गया है। शेर, सर्प, विषैले जीवों द्वारा प्राप्त दुःख तथा गर्मी-सर्दी आधिभौतिक दुःख है। देवों, भूत-प्रेत द्वारा प्राप्त कष्ट आधिदैविक कहा है। उपर्युक्त प्रकार के किसी न किसी दुःख से सभी संसारी-जन दुःख पाते ही रहते हैं। इन्हीं घोर दुःखों से छुटकारा पानेके लिए संसारी लोग महापुरुषों की अलौकिक कृपा की वांछा किया करते हैं तथा भव ताप से मुक्ति पाते हैं, परन्तु एक दुःख ऐसा है जिसके चपेट में सिद्ध महापुरुष भी आते दिखाई पड़ते हैं। वह है—गुण वृत्ति विरोध दुःख—जिसका सीधा अर्थ है, परस्पर स्वभाव का न मिलना। इस दुःख से-पिता-पुत्र में, भाई-

भाईमें, गुरु-शिष्य में क्लेश पैदा होता दिखाई पड़ता है।

एक बात और है—ईश्वर के विधान में व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। अपने कर्मों के परिणाम का वही भोक्ता भी है। अतः जब किसी व्यक्ति पर कृपालु होकर संत सिद्धजन उसके भव-कष्टों का मोचन करते हैं, तब उन्हें भी उसके फलस्वरूप किसी न किसी अंश में उन कर्मों का भुगतान अपने ऊपर करना पड़ जाता है। यह भी सिद्धों की कृपा का एक अनूठा व्यवहार है। वे स्वयं दूसरों के क्लिष्ट संस्कारों को लेकर भोग लिया करते हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि सत्य संकल्प वाले महापुरुष क्यों नहीं अपनी संकल्प-शक्ति से ही दुस्तर कष्टों का छेदन कर लेते हैं? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि-समाधिस्थ पुरुष पहले ही अपने सारे संकल्पों-विकल्पों का समर्पण ईश्वर में कर चुके होते हैं। अतः वे ईश्वरीय विराट योजना के ही अंग हो चुके होते हैं।

भारतीय सन्त-सिद्धजन जीवों पर ऐसी अहैतुकी कृपा बराबर करते रहे हैं। इसके तमाम उदाहरण उनकी जीवन-गाथाओं को पढ़ने पर मिलते हैं। साधारण मानव के संस्कारों का कष्ट भोग अपने ऊपर भुगतने की सामर्थ्य सिद्धोंमें ही हुआ करती है। यही महाकरुणा कही गई है।

एक योगिराज दो-सौ वर्ष से भी ऊपर के हो चुके हैं। वे अमृत-भाण्ड हाथमें लिये यत्र-तत्र जीवों के पास विचरण करते रहे, परन्तु लोग उनके पास भव-बन्धन को प्राप्त करने हेतु ही आते हैं, किसी को धन चाहिए, किसी को पुत्र चाहिए। आत्म-ज्ञान कितने लोग चाहते हैं? ऐसे महापुरुष के महा-जीवन के शेष अङ्क का शेष दृश्य जब समागत होता है तब वे कहते हैं—बारह वर्ष पूर्व जो एक डायबेटीज को जीवन-दान दिया था, वही अब इस शरीर के अन्त का कारण बनेगा और वैसा ही हुआ भी।

श्री रामकृष्ण दारुण यन्त्रणा सहन कर रहे हैं। शिष्योंने कहा—देव! आप एक बार माँ से क्यों नहीं प्रार्थना करते हैं? वे मुस्करा पड़े और बोले—जब मैं उसके पास होता हूँ तो केवल वही होती है। वहाँ न मैं होता हूँ न यह कष्ट ही होता है।

सद्गुरु अपने में अनुरक्त भक्तों के कर्म-जाल को अपनी सामर्थ्य से छिन्न-भिन्न कर दिया करते हैं। लौकिक पीड़ाओं को झेलते हुए सिद्ध सद्गुरु अपने अन्तरंगों की एक-निष्ठता का परीक्षण भी कर लिया करते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस जी की ही बात है—उनका शारीरिक कष्ट भयावह होता जाता है। सामनेसे प्रशंसकों की भीड़ हट चुकी है। कुछ अन्तरङ्ग आत्मानिवेशी ही अपनी पूर्ण निष्ठा से सेवा-रत हैं। फोड़े से हर समय मवाद-रक्त निकलता रहता है। तभी एक दिन विवेकानन्द ने कटोरे में फोड़े से निकला रक्त-पीव रंजित जल उठाकर पी गये। अन्य शिष्यों पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा। श्री परमहंसदेव यह जानकर अपने अन्तरङ्गों के

समस्या खुल पड़े। बोले—देखो ! अपने शरीर की ओर इंगित करते हुए। जो पहले राम और कृष्ण हो चुके हैं वही रामकृष्ण यहाँ है। लोगों के पापों का परिमार्जन तो गुरु को करना ही पड़ता है।

परम करुणार्णव श्री महाप्रभुजी द्वारा अनेक व्यक्तियों—मानिकचन्दजी, बाबूरामजी आदि के जीवन में की गई कृपा तथा नित्य सद्गुरु श्री प्रभुजी द्वारा की जा रही अक्षय-कृपा आज भी भक्तों का एकमात्र आधार है। सिद्धों की जीवन-गाथाओं में भव-भय हरण की कथायें मिलती ही हैं। अब हम देखेंगे कि भारत-भूमि से इतर २००० वर्ष पूर्व एक ऐसे ही आध्यात्मिक पुरुष यीशु ने कैसे लोगों के कष्टों-पापों का भुगतान अपने शरीर पर भोगा और मृत्यु का वरण करके भी पुनः जीवित हो गये।

मृत्यु घटना का पूर्वाभास—

महात्मा यीशु ने अपने उत्तर-काल में एक दिन अपने शिष्यों से कहा—तुम जान लो कि दो दिनों के बाद हमें क्रूस पर चढ़ाये जाने के लिए अधिकारियों के हाथ सौंप दिया जायेगा तुम में से एक हमारे साथ विश्वासघात करेगा वही हमें गैर यहूदियों के हाथ सौंप देगा। वे हमारी हँसी उड़ायेंगे, कोड़े लगायेंगे, शूली पर चढ़ायेंगे, परन्तु तुम सुनलो, ईश्वर हमें पुनः तीसरे दिन जीवित कर देगा।

ऐसे ही एक अवसर पर यीशु ने अपने अन्तिम दिनों की ओर संकेत पहले ही शिष्यों पर प्रकट किया। बेथानिया में अपने शिष्यों के साथ सिमोन के घर भोजन करने बैठे हुये थे तभी एक स्त्री स्फटिक पात्र में बहुमूल्य इत्र उनके पास लाई और यीशु के सिर पर मल दिया। यह सब देखकर शिष्य झुंझला उठे और कहने लगे—यह फिजूल खर्ची क्यों ? यह इत्र तो बहुत दाम पर बिकता जिससे गरीबों का कल्याण होता। यीशु ने गम्भीर भाव से कहा-तुम सभी इसे क्यों सताते हो ? इसने ठीक ही किया है। इसने हमें उपकृत किया है। गरीब तो सदा तुम्हारे बीच रहेंगे, परन्तु मैं अब अधिक दिन तुम्हारे बीच नहीं रहूँगा।

समय निकट आता गया। यीशु ने कहा—आज की ही रात मेरे कारण तुम सब विचलित हो जाओगे। पुनर्जीवित होने के बाद मैं तुम्हें गलीलिया ले चलूँगा। यीशु के एक शिष्य पेतुस ने कहा—आपके कारण चाहे सब विचलित हो जायें, परन्तु मैं कदापि विचलित नहीं होऊँगा। महात्मा यीशु रहस्यमयी मुस्कान के साथ बोले—मैं सच कहता हूँ पेत्रुस ! मुर्गे के बांग देने के पहले 'तुम मुझे तीन बार' अस्वीकार कर दोगे। इस पर शिष्यों ने कहा—प्रभो ! हमें मरना ही क्यों न पड़ जाय ? हम आपको अस्वीकार कभी नहीं करेंगे, परन्तु हुआ वही जो होना था।

सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्।

तथा—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि,
भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति,
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

—गीता १५/१०

यीशु दिव्य दृष्टि सम्पन्न थे।

शिष्यों व प्रधान याजकों की करतूत

सद्गुरु से मात्र दीक्षा प्राप्त कर लेना ही शिष्यत्व नहीं है, सद्गुरु को अपने जीवन में अभिमुखीकृत करना ही शिष्यत्व है। कबीर ने इसी बात को चुटीले दोहे में कहा है—

'शीस दिये जो गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।'

इसी स्तर की परम भावना में जीव का अभिनिवेश समाप्त होता है और सद्गुरु अपने स्वरूप का दान शिष्य को किया करते हैं। इस कठिनतर परीक्षा में उत्तीर्ण होने की पात्रता यीशु के बारह शिष्यों में किसी के पास न थी, अतः इसका संकेत पहले ही उन्होंने कर दिया था।

रात्रि बीतने को है, तभी सशस्त्र व्यक्तियों का एक झुण्ड यीशु को घेर लेता है। विश्वास-घाती शिष्य यूदस ने ही यह सब जाल पर-म्परावादी उग्र पुजारियों से मिलकर रचा था। यीशु के अन्य शिष्य भी हल्के प्रतिरोध प्रदर्शन के बाद इधर-उधर हो लिये। मात्र पेतुस वह भी भीड़ में छिपा-छिपा अपने गुरु का अनुगमन करता रहा। बड़ा ही मार्मिक दृश्य है। विरोधी नाना प्रकार से यीशु की प्रताड़ना करते हैं। कोई थप्पड़ मारता है, कोई यीशु पर थूकता है, कोई काँटों का ताज पहनाता है, सभी मनमानी करने पर उतरे हुए हैं। वहीं किसी ने पेतुस से पूछा—तुम भी तो इन्हीं के शिष्य से लगते हो? पेतुस ने कहा—ऐसा क्यों कहते हो, हम उनमें से नहीं हैं। थोड़े अन्तराल से किसी अन्य ने पुनः पूछा, परन्तु सब कुछ गुरु के साथ घटित होता देखता हुआ भी अभिनिवेश पीड़ित पेतुसने यीशु का शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया। वह सहन न कर सका और न ही आत्म-गौरव का परिचय दे सका। वहाँ से दूर हटकर कुछ लोगों के बीच जा बैठा, तभी एक औरत ने कुछ पहचानने के भावसे कहा—लगता है कि तुम भी यीशु के ही तो शिष्य हो? तत्काल पेतुस ने कहा—भली! ऐसा क्यों कहती हो? हम उनमें से हीं हैं, तभी मुर्गेने बांग दी। मुर्गेकी बांग सुन पेतुस आत्म-ग्लानि के मसन से गलित हो उठा। उसको कानों में बार-बार सद्गुरु का अन्तिम वाक्य गूंजता रहा—पेतुस! तुम मुर्गे की बांग तक मुझे तीन बार अस्वीकार कर चुके होगे।

न्याय का ढोंग रच अन्ततोगत्वा यीशु को क्रास पर लटका दिया गया। अन्तिम समय यीशु ने कहा—मेरे परमपिता प्रभु! मैं अपने प्राण आपके हाथ सौंपता हूँ। वे क्रूस पर मृत्यु को प्राप्त हुए और पुनः तीन रोज बाद पुन-र्जीवित हुए। इस घटना के कई रोज बाद जिस समय यीशु के ग्यारहों शिष्य एकान्त में एकत्र हो अतीत के मधुर ऐश्वर्य-मण्डित क्षणों का स्मरण कर रहे थे, तभी उनके बीच यीशु प्रकट हुए और बोले—तुम्हें शान्ति प्राप्त हो, वे सभी डर गये। यीशु ने कहा—तुम क्यों भयभीत हो, तुम्हारे मन में क्यों संशय हो रहा है? मुझे छूकर देखो, मैं वही हूँ। उनमें विश्वास पैदा करने हेतु कहा—तुम्हारे पास कुछ खानेको है? शिष्यों द्वारा निवेदित भोज्य ग्रहण कर यीशु ने अपने पुनरुत्थान का प्रमाण दिया। तत्पश्चात् उन्हें शक्ति प्रदान की और धर्म प्रचार हेतु वरदान दिया तथा नाना आशीर्वाद देकर पुनः अन्तर्धान होगये।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(आयुर्वेदीय विविविधान)

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

जिसके देह में वात, पित्त और कफ, ये दोष (Temperaments) अग्नि, रस-रक्त आदि धातुएँ और धातुओं की मलक्रिया ये सब सम हैं तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वही पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते ।
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ॥
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥

शरीर को श्रम उत्पन्न हो, ऐसी क्रिया को व्यायाम (कसरत) कहते हैं। व्यायाम करने से देह सब ओर से सुडौल बनती है। शरीर की सुदृढ़ता, कांति-वृद्धि, अवयवों की सुन्दरता, जठराग्नि की प्रदीप्तता, आलस्य का अभाव, प्रसन्नता, लघुता और मृदुता की प्राप्ति होती है। परिश्रम, थकान, प्यास, गर्मी, सर्दी आदि सहन करने की शक्ति बढ़ती है तथा परम आरोग्य की प्राप्ति होती है। स्थूलता कम करने के लिए व्यायाम के समान कोई भी साधन नहीं है। व्यायाम करने वाले को शत्रु का भय नहीं रहता, सहसा जरा-वस्था का आक्रमण नहीं होता और मांसपेशियाँ सुदृढ़ बनी रहती हैं। जैसे—सिंह के पास मृग आदि क्षुद्र पशु नहीं जा सकते, वैसे ही नियमपूर्वक व्यायाम करने से कोई भी व्याधि नहीं आ सकती। व्यायाम अवस्था, रूप और गुणों से हीन मनुष्यों को भी सुन्दर स्वरूप वाला बना देता है।

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ।
दृष्टि-प्रसाद-पुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्य कृत् ॥

शरीर पर तेल की मालिश करने को तैलाभ्यङ्ग कहते हैं। जो मनुष्य नित्य या २-४ दिन बाद तेल मालिश करते रहते हैं, उनकी दृष्टि विमल, रक्ताभिसरण क्रिया सम्यक्, देह सुदृढ़, शान्त निद्रा, त्वचा मुलायम और तेजस्वी तथा मन में प्रसन्नता बनी रहती है। कफ-वात का निरोध, धातुओं की पुष्टि और परिश्रम का शमन होता है।

इसके अतिरिक्त जरावस्था आने पर भी देह में बल बना रहता है। मस्तिष्क, कर्णमूल और पादतल पर मर्दन करने पर मस्तिष्क और स्मरण-शक्ति को भी लाभ पहुंचता है।

मालिश न करते रहने से या इतर रोग आदि हेतुओं से जिस मनुष्य की त्वचा शुष्क, बालों की रूक्षता, खुजली चलना, वात-विकार, मैल बढ़ना आदि दोष हो गये हों, उनको तेल की मालिश करना अति हितकर है।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम् ।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ॥

स्नान से पहले उद्वर्तन (उबटन) लगाने से कफ और मेद का विलय होता है; अङ्ग स्थिर और दृढ़ होते हैं; त्वचा तेजस्वी और मुलायम बनती है तथा शिराओं के मुख खुल जाते हैं। फिर पसीना नियमित रीति से निकलता रहता है; रक्ताभिसरण क्रिया बलवान् बनती है और त्वचा की ऊष्मा उत्तेजित होती है।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥

नित्य-प्रति स्नान करने की महर्षियों ने आज्ञा की है। स्नान करने से मनोवृत्ति प्रसन्न होती है, अग्नि प्रदीप्त होती है। आयु, उत्साह, बल और अग्नि की वृद्धि होती है तथा खुजली, मैल, पसीना, परिश्रम, आलस्य, तृषा, दाह, त्वचा और रक्त-विकार नष्ट होते हैं। जो मनुष्य नित्य आवलों के चूर्ण से शरीर को मलकर स्नान करता है, वह पूर्ण आयु भोगता है।

न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः ।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥

जो मनुष्य भोजन के पश्चात् विधिवत् मट्ठे का सेवन करता रहता है वह कदापि रोगी नहीं होता। तक्रसे नष्ट हुए रोगोंकी उत्पत्ति पुनः नहीं हो सकती। जैसे स्वर्ग में देवों के लिए अमृत सुखदायक है, वैसेही इस भूमंडल पर मनुष्यों के लिए मट्ठा हितकारी है।

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं,
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वायु ।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो,
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥

जो मनुष्य नित्य ब्रह्ममुहूर्त में उठकर नासापुट से जलपान करता है, वह बुद्धिमान होता है। उसकी दृष्टि गरुड़ के समान तेजस्वी होती है तथा वलीपलित रहित और सब रोगों से मुक्त होता है।

आपका आसन

श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'

आनन्दघन परमात्मा की अंश-भूत आत्माओ ! बड़ी ऊँचाई पर है आपका आसन। बड़ा ही पवित्र, अनुपम और सुरम्य। इसकी रमणीयता अनूठी है, आकर्षण अद्वितीय और उपादेयता अनूठी है। जिसने भी अपने इस उत्कृष्ट आसन के सौन्दर्य को सुरक्षित रखा, वह नर से नारायण की पदवी को पा गया। एक वही आसन है जिस पर आसीन होकर आप निज-धाम का अवलोकन कर सकते हैं। इसी पर से ही आप चौदह भुवनों के ऐश्वर्यों का भलीभाँति अवलोकन कर सकते हैं। निर्गुण निराकार ब्रह्म के असीम आनन्द की अनुभूति इसी आसन पर की जा सकती है। श्रेय-मार्ग की सम्पूर्ण विभूतियाँ इस आपके ही आसन पर स्वतः खेला करती हैं। संसार की सत्यता का भान अपने आप ही हो जाता है। नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का बोध कराने वाला यह आपका आसन है। अमृत के सजल रूपमें बहते हुए झरने यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। इस आसन पर बैठने के लिये सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की सीमाओं को पार करना अत्यावश्यक है। शुभाशुभ कर्मों की गहरी घाटियों में अटका हुआ मनुष्य इस दुष्प्राप्य आसन को छूने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मज्ञान के अखण्ड प्रकाश में विलीन होकर ब्रह्मनिष्ठ इस महासन की गरिमा को जान सकता है।

यह आपका आसन आपके ही अन्दर आठोंयाम विद्यमान है। महादेव स्वयं उस पर अधिष्ठित हुए आपके आने की बाट जोह रहे हैं। इसी पर से ही चौदह लोकों को अमृत-धाराओं से आप्लावित करने वाली शाश्वत आनन्द की गङ्गा निरन्तर बहा करती है। फिर भी आश्चर्य है कि अनित्य संसार के विशाल उद्यान में विहार करने वाला मनुष्य उस सुधा-धारा की निन्दा नहीं सुन पाता, उसमें मज्जन करने की चाह तक नहीं जगाता। इसी आसन की ओर ही संकेत कर रहे हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के ये शब्द—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

—गीता २/२९

उस आसन की ओर कोई तो बड़ी ही आश्चर्य भरी नजर से निहारने लगता है, कोई उसकी गुणावलीका बखान करता-करता अघाता ही नहीं, कोई उसकी महिमा को चकित होकर सुनता है। किन्तु इतने प्रयत्न करने पर भी उस आसन के विषय में किसी को सम्पूर्ण जानकारी मिल नहीं पाई। कितने आश्चर्य की बात है यह ! किन्तु यह सत्य है कि यह पहचान भगवत्कृपा से प्राप्त होती है। सद्गुरु ही इसके रहस्य का पता देते हैं।

आप भी कहते होंगे कि किस प्रकार का अद्भुत होगा यह आसन ? आसन वह चाहे कैसा भी अनूठा हो, है तो वह आपका आपके लिए ही वह आरक्षित। केवल मानव काया में ही उस आसन पर आसीन हुआ जा

सकता है, परन्तु ऐसे आसन तक पहुंचने के लिए सात ड्योढ़ियोंको पार करना होगा। वे देहलियाँ कौनसी हैं? पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि। ये ड्योढ़ियां कैसी हैं? इन ड्योढ़ियों पर कामदेव का उग्र पहरा लगा है। इस कन्दर्प राज (काम) से पहिले लोहा लेना होगा। उस पर पूर्ण विजय प्राप्त करके ही इस अपने आसन पर आप पदार्पण कर सकते हैं। अर्जुन को भगवान् स्वयं अपने मुख से इस सत्यता पर प्रकाश डालते हुए कथन करते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर-
स्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष,
ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ,
नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं,
ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

—गीता ३/४०-४१

हे अर्जुन! इन्द्रियां मन और बुद्धि ये सब इस काम नामक दुर्दान्त शत्रु के वास-स्थान (गढ़) कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित (ढांपना) करके जीवात्मा को मोहित कर देता है। इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाली महापापी काम का तू अवश्य बलपूर्वक वध कर दे।

आपके आसन तक पहुँचने का मार्ग ऊबड़-खाबड़ है। कितनी चक्करदार गलियों में से निकलना होता है। प्रबल वैरी कामदेव का उन मार्गोंपर कड़ा पहरा लगा है। क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार और ईर्ष्या आदि उस महा सेनापति के शक्तिशाली सैनिक हैं, जो अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर हैं। इस प्रकार के बीहड़-मार्ग से गुजरने के लिए और इन प्रचण्ड शत्रुओं से लोहा लेने के लिए असीम बल-पराक्रम की आवश्यकता है।

कठोपनिषद् में भी इसी आशय का एक मन्त्र मिलता है:—

श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा,
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।

—कठोप० वल्ली १, अ० २, मन्त्र ७

यह आपका आसन जिस पर परमात्मा स्वयं विराजमान हैं, बहुतों की चर्चा का विषय बना रहता है, परन्तु उसे पा लेना अति कठिन है। अनेकों ने उसकी महिमा को सुना, किन्तु पूरी जानकारी न पा सके, बड़ा ही आश्चर्य होता है, यदि कोई उस आत्मा का व्याख्यान करने लगे और जो भाग्यवश उस आत्मा का दर्शन करले, वह अत्यन्त निपुण समझा जायेगा। उसका यथार्थ ज्ञान रखने वाले पुरुष को देखकर ही लोग दांतों-तले उँगली दे लेते हैं। कठोपनिषद् के महर्षि कथन करते हैं कि उस सर्वोत्तम सिंहासन पर पहुंचने का अधिकारी वही होगा, जिसने

सद्गुरुदेव जी के चरण-कमलों में बैठकर उनसे शिक्षा-दीक्षा ली होगी।

उस आसन का, उसके चारों ओर की परिस्थितियों का तथा उसके मार्ग में आने वाली अनन्त बाधाओं का वर्णन सहज भावसे चाहे किया जा सकता है और अपने बल, तेज और पौरुष की भी डींगें मारी जा सकती हैं, परन्तु यथार्थ रूप में उस सुदुर्लभ आसन पर प्रतिष्ठित हो सकना कितना दुष्कर कार्य है। उसका पूर्ण ज्ञान तो राही बनने से ही विदित होगा।

अपने आसन की ओर पग बढ़ाने से पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण के ये शब्द भी मनन करने योग्य हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरि-
न्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो,
बुद्धे परतस्तु सः॥
—गीता ३/४२

इन इन्द्रियों को स्थूल शरीर से बलशाली कहा गया है। इन्द्रियों से मन को, मन से बुद्धि को और बुद्धि से प्रबल एवं सूक्ष्म वह आत्मा है।

उस देश में आने के लिये एक-एक इन्द्रिय में एक-एक अक्षौहिणी सेना की शक्ति का भी यदि अनुमान लगाया जाय तो सात अक्षौहिणी सेनाओं से जूझने की अपार शक्ति आपको अपने में भरनी होगी। एक अक्षौहिणी का परिमाण इस प्रकार निश्चित किया गया है— एक अक्षौहिणी में २१८०० रथ, इतने ही हाथी, इससे तिगुने घोड़े और इससे पांच गुने पैदल सिपाही होते हैं। कितनी विराट-वाहिनी से आपको टक्कर लेनी होगी, परन्तु इसमें मन तोड़नेकी कोई बात नहीं। आपका आसन जहाँ इस प्रकार की अग्नि परीक्षा लेता है, वहाँ शाश्वत आनन्द, परमसुख और नित्य शान्ति के भण्डार भी तो आपको प्रदान करता है। इतने ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुंचने के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सभी को अत्यन्त निर्मल बनाना होगा। इसके लिए काया बलवती हो, अङ्ग-अङ्ग परिपुष्ट हो, प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने धर्म के पालन में तत्पर रहती हो, मन राग-द्वेष से खाली हो, वह प्राणिमात्र से प्रेम ही प्रेम करता हो, किसी जीव के प्रति स्वप्न में भी अहित चिन्तन न किया करे। काम-क्रोधादि शत्रु अपनी शत्रुता को भूलकर विश्व के मंगल करने में लग जायें। बुद्धिमें सात्विक भावनायें भरी हों, जो मुमुक्षु पुरुष बन्धन और मुक्ति भय और अभय को, कर्त्तव्य एवं अकर्तव्य को भली प्रकार से जानता है, ऐसा पुरुष सात्विकी बुद्धि का धनी है।

अपने आसन पर अधिकारपूर्वक बैठने वाले परम सात्विक पुरुष में जिन गुणोंका समावेश होना चाहिए, वे ये हैं—

अमिथ्या वचनं सत्यं,
स्वीकार प्रतिपालनम्।
प्रिय वाक्यं गुरो-सेवा,
दृढं चैव व्रतं कृतम्॥

आस्तिक्यं साधुसंगश्च,
पितुर्मातुः प्रियङ्करः।
शुचित्वं त्रिविधञ्चैव,
वस्तु संचय एव च॥

—बृहद्पुराण, पूर्व खण्ड १/४७

झूठ न बोलना, स्वीकार किये हुए व्रत का पालन करना, प्रिय वचन बोलना, सद्गुरु की सेवा करना, नियमों को दृढ़ता से पालना, आस्तिकता, साधु-संग, माता-पिता की आज्ञा में रहना, बाहर और भीतर की शुद्धि, बुरे कर्मों के प्रति लज्जा का होना और पदार्थों का संग्रह करना।

किसी भी उच्च पदवी को प्राप्त करने के लिए उसके अनुरूप अर्हता एवं योग्यता भी होनी चाहिए। माना कि यह आपका अपना आसन है, परन्तु उस आसन से आपको इसलिये वंचित होना पड़ा, क्योंकि उस पर आसीन होनेके पात्र आप नहीं थे। ब्रह्म-दर्शन कर लेना कोई गुड़ियों का खेल नहीं। मन, वचन और कर्म से अत्यन्त पवित्र होना नितांत आवश्यक है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी भी अवस्था में मन मैला न होने पावे।

यह मार्ग त्याग और वैराग्य का है। इस पर चलनेके लिए पूर्ण विवेक की आवश्यकता है। एक बात और भी, विवेक, त्याग और वैराग्य पाने के लिए परिपूर्ण ब्रह्मनिष्ठ सन्त-सद्गुरुदेवजी की टेक का मिलना अनिवार्य है। यह मार्ग बड़ा 'झीना' है, अति सूक्ष्म है। जब तक इस दुर्गमपथ के जानकार पूर्ण इष्टदेवजी से मिलकर, उनके श्री-चरणों में बैठ कर इस रास्ते की भयङ्करताओं का ज्ञान प्राप्त न कर लिया जायेगा, तब तक इन सातों ड्योढ़ियों को पार करना खतरे से खाली नहीं है। उन्हीं की दया-दृष्टि होती है, जिससे अज्ञान या अन्धकार तुरन्त मिट जाता है और भीतर ज्योति के झरने फूट पड़ते हैं। जिनके प्रकाश में अपने धाम के दर्शन हो जाते हैं।

किस प्रकार की जन्म-जन्म से प्रबुद्ध होकर आई हुई आत्माएं अपने वर्तमान जन्म में मोक्ष-सिद्धि प्राप्त कर लेती हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण हमें बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में मिलता है। उसमें स्पष्टतया इस सच्चाई को समझाया गया है कि उस समय के ब्रह्मवादी महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने किस प्रकार के मधुर सदुपदेश से ब्रह्मवादिनी, उच्च संस्कारिणी मैत्रेयीजी को आत्मा की अपरोक्षानुभूति करा दी, उसके ज्ञान-कपाट एकदम से खोल दिये और वह अपने आसन पर स्थित होकर अनन्त शान्ति में विलीन हो गई।

श्री याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद संक्षेप में इस प्रकार है—

"अरी मैत्रेयी! अब मैं इस गृहस्थाश्रम से ऊपर सन्यासाश्रम में जाने के लिये इच्छुक हूं, इसलिये मैं तुम्हारी अनुमति लेना चाहता हूं और साथ ही मेरी इच्छा है कि तुम्हारा और कात्यायनी का जो मेरे साथ पत्नी रूप में सम्बन्ध था, उसका अन्त करते हुए अपनी

सारी सम्पत्ति का तुम दोनों में बँटवारा कर दूँ।" ये शब्द याज्ञवल्क्य जी ने मैत्रेयी से कहे थे।

इस पर ब्रह्मज्ञान की उपासिका मैत्रेयी ने अपनी शंका प्रस्तुत करते हुए कहा—"भगवन्! मुझे आप इतना बतलाइये कि यदि समुद्रों से घिरी हुई सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से भरपूर पृथ्वी भी मेरी हो जाय तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?"

श्री याज्ञवल्क्यजी ने बड़ी गम्भीरता से मैत्रेयी की शंकाका समाधान करते हुए कहा—नहीं, कदापि नहीं! तू सम्पूर्ण वसुन्धरा को पाकर भी अमर नहीं हो सकती। तेरा जीवन वैसा ही हो जायेगा जैसाकि किसी धन-धान्य सम्पन्न व्यक्ति का होता है। धनादि पदार्थों के संचय से अमृतत्व की प्राप्ति असम्भव है। "नामृतत्वस्याशास्ति वित्तेन।"

इस उत्तर को सुनकर मैत्रेयी क्षुब्ध-सी हो गई और उसने विनयपूर्वक कहा कि—"प्रभो! जिस धन-धान्य से मैं अमर नहीं हो सकती, उसे प्राप्त करके मैं क्या करूँगी? मुझे तो आप वह साधन बताइये, जिसके अनुष्ठान से मैं अमर पदवी को पा सकूँ।"

श्री याज्ञवल्क्यजी बोले—"मैं तेरे अन्तर्हृदयको जान गया हूँ। तू वास्तव में ही उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी है, जिसे कोई-कोई आत्मा उपलब्ध करना चाहती है, सो आओ, बैठो और उस तत्वका श्रवण करो जिसके सुनने और निदिध्यासन करने से तू ब्रह्ममयी हो जायेगी, तेरी सम्पूर्ण शङ्कायें मिट जायेंगी। मेरे एक-एक वचन को अपने अन्तःकरण की गहराई में उतार लेना, उससे तेरा परम कल्याण होगा।"

(उपवन के एक रमणीय कुञ्ज में बैठकर श्री याज्ञवल्क्यजी ने मैत्रेयी को ये सारगर्भित वचन कहे—"अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते। अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। हे मैत्रेयी! न ब्राह्मण के, न क्षत्रिय के, न लोक के, न देवों के, न भूतों के और न अन्य सभी के प्रयोजन के लिये ये सब प्रिय होते हैं। ये सभी अपने प्रयोजन के लिये ही प्रिय होते हैं।" यह है सारतत्व, इस विश्व के प्रपंच का, इसे अन्तर्मन में दृढ़ करले।

भाव यह है कि महर्षि तो ब्रह्म की उपासिका पत्नी मैत्रेयी को यह मौलिक सिद्धान्त विस्पष्ट कर देना चाहते हैं कि "सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है। उसी की प्रीति सर्वोपरि है, उसके प्रेम से ही दूसरी सभी वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। मुख्य प्रीति आत्मा की है, यह तू निश्चय जान और सब प्रीति गौण है, अवास्तविक है। संसार और सांसारिक पदार्थों से किया हुआ प्यार ऐसे ही मिथ्या है जैसे कि

रस्सी में की हुई सर्प की भ्रान्ति- रज्जु सर्प नहीं बन जाती। अन्धकार होने से वह सर्प भासती है। ऐसे ही सभी सम्बंध भ्रममात्र हैं इनमें स्थायित्व नहीं, वे निराधार हैं। एक आत्मा ही सत्य है, नित्य है और शाश्वत है, उस करके ही इस संसार का अस्तित्व है, वस्तुतः यह जगत है नहीं।

अतः हे मैत्रेयी ! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और उसका निदिध्यासन सब हो जाने पर निश्चय ही इस सम्पूर्ण प्रपंच का परिपूर्ण बोध हो जाता है। सबमें आत्मभावना रखनी है। अणु-अणु में वही एक आत्मा प्रतिष्ठित है। यह धारणा मन में धारण कर जीवन-पथ पर पग बढ़ाती चल।"

तू निर्गुण ब्रह्म के धाम में विचरण करना चाहती है, इसलिए तुझे गुह्य अद्वैत ज्ञान का सार समझना अत्यावश्यक है।

हे मैत्रेयी ! यह सब कुछ आत्मा ही है। इसका कारण यह है कि सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न होता है, आत्मा में ही लीन होता है तथा स्थिति काल में अर्थात् वर्तमान दशा में भी आत्मा में ही यह जगत् स्थित है। मैंने सभी जिन्हे क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत और सब कुछ करके गिनाया है, आत्मासे अभिन्न नहीं है। सबका आत्मा वही परमात्मा ही है।

मैत्रेयी—ब्रह्मर्षि ! यह कैसे जाना जाय कि यह सब आत्मा ही है ? स्थिति काल में उसकी भिन्नता स्पष्ट प्राप्त होती है।

ब्रह्मर्षि—हे मैत्रेयी ! किसी नक्कारे पर डण्डे से चोट की जाती है, उससे उत्पन्न होने वाली शब्दों की लहरें समस्त वायु-मण्डल में तैरने लगती हैं। उन शब्द लहरियों को यदि एक साथ ही ग्रहण करना हो तो उस दुन्दुभि अर्थात् नक्कारे को ही पकड़ लीजिये। उसके ग्रहण करने से सारे गुञ्जार करने वाले शब्द पकड़ में आ जायेंगे। उन शब्दों को जैसे अलग से नहीं ग्रहण किया जा सकता, ऐसे ही स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं को भी उस "प्रज्ञानं ब्रह्म" प्रज्ञान अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान की दशा से पृथक करके नहीं जाना जाता, इनका आधार वह मूल आत्मा है।

इसी प्रकार शङ्ख और वीणा के बजाने पर उनके स्वरों को अलग से नहीं पकड़ा जा सकता। उन्हें यदि रोकना हो तो सीधे शङ्ख और वीणा को ही थाम लो। उनके ग्रहण करने से सभी शब्द लहरियां शान्त हो जायेंगी। इसी प्रकार हर एक प्राणी जीवन-दशा में भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

हे मैत्रेयी ! उस विज्ञानघन ब्रह्म से ही यह जगत् ऐसे सहज-भाव में उत्पन्न हुआ है, जैसे हमारी नासिका से आने-जाने वाला श्वांस निःश्वास होता है, यह बिना किसी श्रम के स्वयमेव चल रहा है। ऐसे ही चारों वेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद् आदि सभी विद्याएं और जितना भी नाम रूपात्मक जगत् है, यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। जैसे अग्नि से भिन्न धुआं, चिनगारियां, ज्वालायें नहीं है। इनका आधार वह अग्नि ही है, इन सब में भी वही आग व्याप्त है। ऐसे ही सारे

प्रपञ्च में ब्रह्म ओतप्रोत है, उससे रिक्त स्थान कोई भी तो नहीं।

अन्त भी तो सभी का वही ब्रह्म है। जिस प्रकार सब जल का प्रलय-स्थान सागर है, इसी प्रकार सब स्पर्शों का प्रलय-स्थान त्वचा है। गंधों का नासिका, रसों का जिह्वा, रूपों का चक्षु और समस्त शब्दों का प्रलय-स्थान कान है। समस्त सङ्कल्पों की परि समाप्ति मनमें होती है और तमाम विद्याओं का केन्द्र हृदय है। सब विसर्गों का पायु-मार्गों का चरण एकमात्र प्रलय-स्थान है। उसी प्रकार समस्त वेदों का परिहार वाणी में हो जाता है। ये इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंके स्रोत हैं और ये ही उनका अन्त है।

जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक का ढेला जल में ही लीन हो जाता है, उसे जल से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसे ही प्रज्ञानघन ब्रह्म ही सर्वत्र रमा हुआ है। यह समस्त स्थूल प्रपञ्च उसी से ही व्याप्त है। जैसे समुद्र में जहाँ से भी जल लो वहीं वह नमकीन होगा। ऐसे ही जहाँ से भी संसार को छुओ वहाँ ब्रह्म का ही स्पर्श पहले होगा। मध्य में होगा और अन्त में भी होगा, उससे भिन्न तो किसी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं, यह है अद्वैत तत्व, इस पर गम्भीर विचार कर अपने ब्रह्मत्व की अनुभूति को प्राप्त कर लें।"

इस अद्वैत तत्व का पूर्ण ज्ञान बिना सन्त-पुरुषों की चरण-शरण ग्रहण किये कदापि नहीं हो सकता।

आप भी सन्त-पुरुषों की संगति में बैठकर "अपने आसन की खोज कर लीजिये और जीवन-मुक्त हो जाइये।"

—०—

● चित्त—एक महानतम् सम्पत्ति ●

मानव-जीवन में परमात्मा को पाने के लिए साधनरूप में अनेकानेक सम्पत्तियाँ हैं। 'सभी सम्पत्तियों में चित्त एक महानतम सम्पत्ति है, अनमोल है।' जगतमें हमें सारी चीजें मिल सकती हैं, परन्तु चित्त यदि एकबार चला जाय तो फिर से महाकठिन है। चित्त गया सो गया, फिर से तुमको प्राप्त नहीं होगा। इसीलिये चित्त को मजबूत, दृढ़, निर्मल, शक्तिशाली, दीर्घकाल तक सत्य-स्फुरणयुक्त बनाने के लिए ही हमारी आर्य संस्कृति में उपासना बतलाई गई है। मन्त्रपाठ, स्तोत्रपाठ, ईश-चिन्तन जो भी कुछ तुम्हारी उपासना है, वह सब 'चित्त-पूजन' है।

चित्त की महान् कीमत है। चित्त को साधारण मत समझो। चिति या चित्प्रकाश की संकोचदशा चित्त है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का एक सूत्र है—'चित्संकोचिनी चित्तम्।' उसके भाष्य में लिखा है—'न चित्त नाम अन्यत् किंचित् अपि तु सैव भगवती तत्।' चित्त प्रत्यक्ष भगवती है। यानी भगवती चिति कुण्डलिनी है। चित्त के सहारे ही समष्टि जगत हुआ है। चित्त के सहारे ही व्यष्टि जगत में जीव-प्रपंच है। चित्त चितिशक्ति की एक स्फुरणा है। चित्प्रकाश रूप परमेश्वर अनन्त शक्ति के भण्डार हैं। —स्वामी मुक्तानन्द

नन्दन्ति योगीश्वराः

❀ श्री दर्शनानन्द

योगिराज भर्तृहरि ने इस आशा नाम की संसाररूपी नदी के भयंकर प्रवाह और उसमें पड़े हुए विकट भँवर-जाल तथा उसमें मनुष्य के अस्तित्व को खा जाने वाले मगर-मच्छों का वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसी दुस्तरा और ऊँचे-ऊँचे किनारों के बीच में बहने वाली वेगवान् नदी को केवल योगी-लोग ही पार करते हैं। वहाँ पहुंच जाया करते हैं, जहाँ परमानन्द के अतिरिक्त और कुछ ही ही नहीं।

समर्थ स्वामी रामदास ने इस संसार को मायारूपी चंचल नदी की उपमा दी है। इनका भी कथन यही है कि इस नदी को वे योगेश्वर लोग ही पार किया करते हैं जो वृत्तियों से रहित हो जाते हैं। योगी भर्तृहरि का इस सम्बन्ध में जो विवेचन है वह उन्हीं के शब्दोंमें पढ़िये और विचार कीजिये-

आशा नाम नदी मनोरथ,
जला तृष्णा तरङ्गाकुला।
राग ग्राहवती वितर्क,
विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्त सुदुस्तराऽति-
गहना प्रोत्तुंग चिन्तातटी।
तस्याः पारगता विशुद्ध,
मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

यह माया गुप्त नदी गंगा के समान है। वह अपने स्मरण से सबको पावन करती है। आप लोग इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं, यह बात मिथ्या नहीं है। इसका निर्माण भी अचल या अचल से (उसी प्रकार जिस प्रकार नदी का निर्माण अचल या पर्वत से होता है) हुआ है और यह भी वेगपूर्वक नीचे की ओर बहती है। यह अखंड रूप से बहती रहती है, पर किसी को दिखाई नहीं पड़ती। इसमें भी जगह-जगह मोड़, चकला, भँवर, ऊँची-ऊँची लहरें, खोतें, दल-दलें और करारें होती हैं। इसमें शुष्क या गुप्त जल का प्रवाह है, धारा है, प्रपात और चपल पानी उछलता हुआ बहता है। इसमें भी फेन बुलबुले और लहरें उठती और स्वच्छन्दता-पूर्वक पानी बहता है। इसमें भी बूंदें, फुहारें और अणु-रेणु आदि हैं। इसमें भी वैसा ही बहुत-सा कूड़ा-करकट बहता है जैसा कि नदी की बाढ़ में होता है, ऊँचे से पानी गिरता है और छोटे-बड़े कंकर-पत्थर, चट्टानों और भँवर आदि बीच में हैं। इसके आसपास की कोमल भूमि कट जाती है और कठोर भूमि ज्यों की त्यों बनी रहती है। सृष्टि में यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। कुछ लोग इसमें बहते चले जाते हैं, कुछ भँवर में फंसे रहते हैं और कुछ अधोमुख होकर संकट में पड़े रहते हैं। कोई गिरता पड़ता चला जाता है, कोई कुचल कर मर जाता है और कोई पानी भरने के कारण फूल जाता है। बलवान् लोग तैरते हुए इसके उद्गम (ब्रह्म) तक पहुंच जाते हैं और उनके दर्शन करके पवित्र होते हैं तथा तीर्थरूप हो जाते हैं। वहाँ ब्रह्म आदि देवताओं के भुवन और ब्रह्माण्ड के देवताओं के स्थान हैं। उलटी गंगा तैरकर जाने वाले सब लोग वहीं मिलते

है। इस जल से बढ़कर निर्मल तथा चंचल और कोई पदार्थ नहीं है और इसे आपो-नारायण कहते है। यह तो महानदी पर छिपी हुई है, पर फिर भी सदा प्रत्यक्ष रूपसे बहती रहती है। यह स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनो लोकोंमें फैली हुई है। नीचे-ऊपर और आठों दिशाओं में इसका जल चक्कर मारता है और ज्ञातालोग इसे जगदीश के समान मानते हैं। संसार के अनन्त मनुष्य अनन्त पात्रों के समान है और इसी जलसे भरे हुए हैं। किसी पात्र में जल तो गिर जाता है (जैसे साधुओं का) और किसी पात्र का जल इसी संसार में खर्च हो जाता है (जैसे वृद्ध पुरुषों का) किसी के लिए यह जल कड़ुवा होता है, किसी के लिए मीठा और किसी के लिए तीखा, खारा या कसैला होता है। यह जिस पदार्थ में मिलता है, उसी के रूप का हो जाता है और गहरी पृथ्वी में गहराई के साथ भरा रहता है। यह विष में मिलकर विष, अमृत में मिलकर अमृत, सुगन्ध में मिलकर सुगन्ध और दुर्गन्ध में मिलकर दुर्गन्ध हो जाता है। यह गुणों और अवगुणों में भी मिल जाता है और जिसके साथ मिलता है, वैसा ही हो जाता है। बिना ज्ञान के इस जल की महिमा का पता नहीं चलता। अपरम्पार जल बहता है, पता नहीं चलता कि यह नदी है या सरोवर! बहुत से लोग इसी जल में पड़े हुए (माया में फँसे हुए) बराबर जलवास ही करते रहते हैं। जो लोग इसके उद्गम के उस पार पहुँच जाते हैं। वे जब उलटकर पीछेकी ओर देखते हैं, तब उन्हें मालूम होता है कि यह पानी बिल्कुल खतम हो गया और कहीं कुछ है ही नहीं। अर्थात् योगेश्वर लोग वृत्तियों से शून्य या रहित होते है। इस बात का भलीभाँति विचार करना चाहिए। दास कहता है कि यह बात मैं बार-बार कहाँ तक कहूँ।

—❀ चित्त का समत्व ❀—

आज एक ओर जहाँ मनुष्य के मन एक-दूसरे से टकरा रहे हैं, वहाँ इधर-उधर विज्ञान का उदय भी हो चुका है। इस स्थिति में मनुष्य पर विज्ञान का आक्रमण होने लगा है। जब तक मनुष्य मन से मुक्त होकर, मन से ऊपर उठकर हर चीज के बारे में सोचने नहीं लगेगा, तब तक वह टिक नहीं सकेगा। आज मनुष्य के सामने प्रश्न है कि वह समत्व-बुद्धि से सोचेगा या नहीं। अब हम मन के मुताबिक सोचते नहीं रह सकते। यह गा नहीं सकते कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'। सारे संसार में हमें भारत अच्छा लगता है, क्योंकि वह हमारा है—ये सब छोटे अभिमान अब हमें छोड़ने होंगे। दवा कितनी भी कड़वी क्यों न लगती हो, तो भी उसे लेना ही पड़ेगा, क्योंकि यह विज्ञान है। अब मेरी व्यक्तिगत समाधि और आपकी आधि, व्याधि, उपाधि नहीं चलेगी। अब तो सामाजिक समाधि चाहिए। समाधि का अर्थ है समत्वयुक्त चित्त। जिस चित्त में विकार का स्पर्श नहीं, अहंता-ममता नहीं, संकुचित भाव नहीं, इस प्रकार जो विज्ञानमय चित्त होगा, उसका नाम है समाधि। सारा समाज ऐसी समाधि पाये अथवा नष्ट हो जाय—ऐसा सवाल आज विज्ञान ने उपस्थित किया है।

तीन कविताऐं

गोस्वामी तुलसीदास कृत

(१)

माधव मोह फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ॥१
घृतपूरन कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै ॥२
तरु कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होय नहिं तैसे ॥३
अंतर मलिन विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध बिधिमारे ॥४
तुलसिदास हरि-गुरु करुना बिनु बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार–घोर–निधि पार न पावै कोई ॥५

(२)

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥१
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ॥२
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥३

(३)

हे हरि! कवन जतन भ्रम भागै।
देखत, सुनत, बिचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥१
भगति-ग्यान-वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहउ देउ कछु, असि बासना न उरते जाई ॥२
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै।
निज करनी बिपरीत देखि मोहि समुझि महा भय लागै ॥३

ध्यान एवं ध्यान के भेद

❀ वैद्य श्री नारायण मिश्र शास्त्री ❀

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

जिस विषय में ज्ञान-वृत्तियों का समान प्रवाह (ध्यानम्) ध्यान कहलाता है। वह ध्यान चार प्रकार का होता है—

(१) पदस्थ ध्यान, (२) पिण्डस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान, (४) रूपातीत ध्यान। जैसा कि इस निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट होता है—

ध्यान जु चारि प्रकार के कहु जु उनकी रीति।
पदस्थ पिण्डरूपस्थ है चौथा रूपातीत ॥

पदस्थ ध्यान—हृदय में अपने इष्टदेव के चरण-कमलों, नख से लेकर सारे शरीर और शिखा तक सारी छवि को निरख कर उनके चरण-कमलोंमें ध्यान करना पदस्थ ध्यान है।

पिण्डस्थ ध्यान—अपना शरीर ही पिण्ड है और इसी में ब्रह्म का निवास है। ऐसा समझकर षट्चक्र का ध्यान करें। पहला गुदा में मूलाधार चक्र, दूसरा लिङ्ग में स्वाधिष्ठान चक्र, तीसरा नाभि मणिपूरक, चौथा हृदय में अनाहद, पाँचवाँ कण्ठमें विशुद्ध चक्र, छठा दोनों भौहों के बीच आज्ञा-चक्र, आज्ञा-चक्र के अनेक नाम हैं। जैसे भँवर गुफा, त्रिवेणी, नासिकाग्रह, त्रिकुटी इत्यादि।

साधै सिमरे पिण्ड को,
षट्चक्रहुँ को ध्यान।
शोधन- शोधत आ चढ़े,
भँवर गुफा अस्थान ॥
तिरवेणी संगम बहे,
ज्योति जहाँ दरसाय।
सात जन्म सुचि होय,
जब ध्यान करै मन लाय ॥
कमल सहस्रदल सातवाँ,
शीश मध्य हो वास।
तहाँ देवता सतगुरु,
पूरी करैं जो आस ॥
आगे कमल हजार दल,
सतगुरु ध्यान प्रधान।
अमृत स्रवैंवहि चलै,
हंस करैं स्नान ॥

हंस = जीवात्मा

रूपस्थ ध्यान—

रूपस्थ ध्यान को भेद,
सुनि कीजै मन ठहराय।
देखै त्रिकुटी मध्य है,
निश्चल दृष्टि लगाय ॥
ध्यान किए पहिले जहाँ,
अग्नि फुल दरसाय।
फेर चौतन माझ ही,
दीप ज्योति प्रगटाय ॥
शनैः शनैः आगे यहाँ,
दीप माल दरशाय।
फिर तारों की माल सी,
दामिन बहु दमकाय ॥
बहुत चन्द सूरज घने,
देखै कोटि अनन्त।
बगु ज्यों करि सूमर भरे,
ध्यान माहि वर सन्त ॥

शक्ति-एक वैज्ञानिक व्याख्या

❀ श्री राजेन्द्र बिहारीलालजी

शक्ति के बिना जीवन असम्भव है। भोजन पचाने, चलने-फिरने, सोचने-विचारने, कोई भी काम करने—यहाँ तक कि दिल की धड़कन तक के लिए शक्ति चाहिए। एक ओर सारी सृष्टि भगवान् की अनन्त शक्ति का चमत्कार है तो दूसरी ओर मनुष्य भी अपनी अल्प शक्ति का प्रयोग करके दुनिया में बड़े-बड़े काम कर सकता है और परमात्मा तक को प्राप्त कर सकता है। हिन्दू-धर्म शक्ति का उपासक है और दुर्बलता को दूर करना ही उसका आदर्श है।

प्राचीन कालसे ही मनुष्य शक्तिकी खोज में लगा है। भांति-भांति की शक्तियों का अध्ययन भौतिक विज्ञान का विशेष विषय है। वैज्ञानिकों ने कई प्रकार की ऊर्जा का अनुसंधान किया है। जैसे ताप, प्रकाश, बिजली, गति, चुम्बकत्व, गुरुत्वाकर्षण, जीवनी-शक्ति और चेतना आदि। इस संबन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि विद्युत् तथा गुरुत्वाकर्षण की शक्तियां सर्वव्यापी हैं। ये कहीं प्रकट हैं तो कहीं अदृश्य, कहीं क्रियाशील हैं तो कहीं सुषुप्त रूप में। उदाहरण के लिए समस्त अन्तरिक्ष में और प्रत्येक जीवित प्राणीके शरीरमें बिजली विद्यमान रहती है।

दूसरी अद्भुत बात यह है कि सभी शक्तियाँ अनन्त हैं। कोई नहीं जानता कि सारे संसार में कुल मिलाकर कितनी बिजली, कितना ताप और कितनी गति की शक्ति है। ये शक्तियाँ सदा से चली आ रही हैं और सदा चलती रहेंगी। भौतिक शक्तियों में भी सर्वव्यापिता और सर्वसमर्थता के ईश्वरीय गुण हैं।

झिलमिल, झिलमिल ज्योतिमय,
भासै सब संसार।
तन-मन उपजै सुख घना,
आनन्द अधिक अपार॥
जल अथाह में डूबि ज्यों,
देखै दृष्टि उघार।
जो देखे तो नीर हो,
दस दिसि अपरम्पार॥
यही ध्यान प्रत्यक्ष है,
गुरु-कृपा से होय।
"तमहूर" अजपा जाप जप,
तन-मन आलस खोय॥

रूपातीत ध्यान—

रूपातीत शून्य ध्यानहि जानो।
शून्यहि को परब्रह्म पिछानो॥
त्रिकुटी परे शून्य अस्थान।
सो वह कहिये पद निर्वान॥

ध्यान की अन्य विधि—

महात्मा लोग ध्यान की एक विधि और बतलाते हैं उनका कहना है कि हृदय में चौकोर एक कमरा है, उसमें तीन तरफ दीवाल हैं, एक तरफ खुला हुआ है। हृदय के इस कमरे में अपने इष्टदेव को बिठावें और वहाँ षोडशोपचार से उनका मानसिक पूजन और उसका ध्यान करें। अपनी सुरति को वहीं ठहरावें और इसका अभ्यास करें।

इस विषय में अपने-अपने सतगुरु से जानकारी करें। जैसा सतगुरुदेव बतलावें वैसा करना चाहिए।

तीसरा विचित्र तथ्य यह है कि विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से परिवर्तित की जा सकती हैं। ताप से बिजली तथा गति और बिजली से ताप, प्रकाश, गति तथा चुम्बकत्व पैदा किया जा सकता है। वैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया है कि शक्ति को द्रव्य में और द्रव्य को शक्ति में बदला जा सकता है। इससे यह क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्माण्ड में जड़ या चेतन जो कुछ भी है–द्रव्य, ऊर्जा, पत्थर, पेड़, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवी, देवता, बुद्धि, भावना और विचार—सबका उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है, सब विभिन्न रूपान्तर हैं एक ही चिन्मय शक्ति के जिसे परमात्मा कहते हैं। चर-अचर सभी भूत परमात्मा के ही छोटे-बड़े प्रतीक हैं, परमात्मा में ही ओत-प्रोत हैं, परमात्मा की ही झलक दिखाते हैं, परमात्मा में से निकले हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं। यही वेदान्त का मूल सिद्धान्त है, जिसे हमारे ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले खोज निकाला था, जिसका समर्थन आज का विज्ञान पूरी तरह करता है।

एक का अनेक में परिवर्तन कुछ अजीब-सा लगता है, किन्तु इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण हमारे शरीर में ही मिल जाता है। मनुष्य जिस भोजन, पानी और हवा का सेवन करता है, वह पेट में पचकर रस या रक्त बन जाता है। वही रक्त शरीर में जगह-जगह पहुंचकर अनेक अङ्गों और शक्तियों का रूप धारण कर लेता है, जैसे हड्डी, मांस, बाल, नाखून, सूंघने, सुनने, बोलने और विचारने की शक्ति।

हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि इसने भगवान की सत्ता को कई विभागों में बांट दिया है और हर विभाग का एक अलग अध्यक्ष नियुक्त किया है। इसके लिए अनेक देवी-देवताओं की रचना की गई है, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यमराज, कुबेर, इन्द्र तथा सूर्य। देवियों में प्रमुख महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई विभिन्न रूप और गुणवाली देवियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे—वैष्णवी देवी, मीनाक्षीदेवी, चामुण्डादेवी तथा कामाक्यादेवी।

मनुष्य के पास कई प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, जैसे शरीर की, बुद्धि की, विद्या की और तपस्या की।

दसमुख सभा दीखि कपि जाई।
कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥
कर जोरे सुर दिसिप विनीता।
भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥

इतनी अद्भुत शक्ति पाकर भी रावण अपनी दुर्बुद्धि के कारण राक्षस से महाराक्षस बन गया। यह शक्ति का दुरुपयोग था, जैसे जिस अग्नि से खाना पकता है और रेलगाड़ियां तथा जहाज चलते हैं, वही अग्नि घरों और अन्य सम्पत्ति को भस्म कर सकती है। विज्ञान की शक्ति ने आज एक ओर अनेक सुख-साधन जुटाये हैं, तो दूसरी ओर

मनुष्य के विनाश के लिये भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र और मादक पदार्थ भी तैयार कर दिये हैं।

किसी व्यक्ति की शक्ति अच्छी है या बुरी—यह इस बात पर निर्भर है कि वह उस शक्ति का कैसे प्रयोग करता है। शक्ति स्वयं नैतिक दृष्टि से तटस्थ या उदासीन है। गहरे चिन्तन और मनन के बाद हमारे शास्त्रकार इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भगवान् की शक्ति, जिसे प्रकृति कहते हैं, तीन गुणों वाली होती है—सत्त्व, रजस् और तमस्। गीता ने यह भी बताया है कि सृष्टि की सभी वस्तुएँ इन्हीं तीनों गुणों से रंगी हुई हैं (१८।४०)। सत्त्वगुणी पुरुष उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुणी मध्य में ही रहते हैं और तामसी पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं। (१४।१८)

मनुष्य की शक्ति जो भगवान् की शक्ति का अल्पांश है, इन्हीं तीनों गुणों से प्रभावित रहती है और वही गुण धारण कर लेती है जिसका अनुसरण वह व्यक्ति अपने कार्यों में करता है। सात्त्विक कार्यों में लगायी हुई शक्ति सात्त्विक, राजस कार्यों में उपयोग की हुई राजस और तामस कार्यों में लगायी हुई शक्ति तामस होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मनुष्य के सारे कामों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। भागवत में उनकी उद्घोषणा है—'जो भी काम मेरे लिए फलेच्छा छोड़कर (अथवा दूसरों की भलाई के लिये) किये जाते हैं, वे सात्त्विक होते हैं। जो काम फलेच्छा रखकर (अथवा अपने स्वार्थ के लिये) किये जाते हैं, वे तामस होते हैं।

कहीं यह भ्रम न पैदा हो जाय कि पूजा, ध्यान, जप आदि धार्मिक क्रियाएं सदा पावन और सात्त्विक होती हैं, इसलिये श्रीकृष्ण ने सारे धार्मिक कार्यों को तीन कोटियों में विभाजित किया है (गीता १७।१७-१९) और यह स्पष्ट कर दिया है कि धार्मिक कार्य कल्याणकारी होते हैं जब वे दूसरों या समाज की भलाई के लिए किये जाँय। इस विषय में किसी प्रकार की कोई शङ्का न रह जाय इसलिये उन्होंने गीता में और भी प्रबल शब्दों में कहा है—अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है। ध्यान से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है (१२।१२)। इसका यह अर्थ नहीं कि ध्यान या जप न किया जाय। भली-भाँति पूजा कीजिये, जितना हो सके ध्यान, जप और कीर्तन कीजिये, किन्तु उन सबके फल को त्यागकर उन्हें सात्त्विक बनाइये। कर्म-फल-त्याग समस्त साधना-क्रम का अन्तिम चरण और पूरक तथा साधना को सात्त्विक बनाने के लिए अनिवार्य है। तात्पर्य यह कि उपासना तथा अन्य सत्कार्यों के फलस्वरूप धन, बल, बुद्धि, ज्ञान, पद, प्रतिष्ठा, मान, बड़ाई जो कुछ भी मिले उसे बड़ी विनम्रता, उदारता और प्रेम के साथ जनता-जनार्दन की सेवा अथवा परोपकार में लगाना चाहिये।

वैकुण्ठ निवासी भगवान की आराधना

सबोध मन
और
अबोध मन

श्री जे० कृष्णमूर्ति

वह व्यापारी भी था और राजनीतिक भी। दोनों क्षेत्रों में उसने सफलता प्राप्त की थी। वह मुस्कराते हुए कह रहा था कि व्यापार और राजनीति दोनों का मेल बहुत बढ़िया है। इसके बावजूद उसमें विचित्र अब श्रद्धा से बद्ध एक प्रकार की बेचैनी दिखाई दे रही थी। फुरसत मिलने पर वह धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया करता था। बीच-बीच में लाभदायी मन्त्रोंका जाप भी। उसका कहना था कि इससे आत्माको शांति मिलती है। वह बूढ़ा हो चला था और उसने धन भी पर्याप्त कमाया था, लेकिन न वह हाथ का उदार था न हृदय का, वह पक्का चालाक और हिसाबी था। भौतिक सफलता की अपेक्षा कुछ अधिक प्राप्त करने की आकुलता उसमें थी। जीवन के स्पर्श से वह वंचित हो गया था। उसे जीवन का प्रक्षोभक स्पर्श न हो, इसके लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहा था। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी उसने अपने को दुर्भेद्य बना डाला था। मन से अपनी असली तस्वीर देखना उसने जान-बूझकर टाल दिया था और ऐसा करना उसे बिल्कुल असंगत नहीं लगा था, लेकिन अब उस पर इस बात का असर होने लगा था। उसकी जागरूकता जब थोड़ी शिथिल होती, तब उसके चेहरे पर किसी के द्वारा पछाड़े जाने का भाव व्यक्त हो जाता था। आर्थिक दृष्टि से वह सुरक्षित था, जब तक वर्तमान शासन-व्यवस्था कायम है और देश में क्रान्ति नहीं हो जाती, तब तक उसे कोई भी भय नहीं था। उस भौतिक जगत् की भाँति ही तथा-कथित आध्यात्मिक जगत् की सुरक्षितता के लिए इस क्षेत्र में भी कुछ पूँजी लगाई जाय ऐसा उसे महसूस हो रहा था। इसलिए वह विभिन्न आध्यात्मिक कल्पनाओं के साथ खेलना चाहता था। वह इस गलतफहमी में था कि आध्यात्मिक कल्पना ही सत्य है। उपार्जित सम्पत्ति के अलावा अन्य किसी के प्रति उसके मन में कोई प्रेम नहीं था। जैसे कोई बालक अपनी माँ से चिपका रहता है, वैसे ही वह अपनी सम्पत्ति से चिपका हुआ था, क्योंकि उसका दूसरा कोई निकटवर्ती

तभी परिपूर्ण और सार्थक हो सकती है जब उसके साथ घट-घटवासी भगवान अर्थात्—विश्वरूपी श्रीकृष्ण की सेवा को जोड़ दिया जाय।

शक्ति की उपासना सभी के लिये आवश्यक है, किन्तु शक्ति का उपयोग केवल अपने ही लाभ के लिये नहीं, वरन् कुल, समाज और राष्ट्र के हित के लिये होना चाहिये। हम भारतीयों—विशेषकर हिन्दुओं का कल्याण इसी में है कि हम सब मिलकर तन, मन और धन से अपने देश और धर्म की सेवा करें और एक महान भारत के निर्माण के लिये सदा प्रयत्नशील रहें।

—oo—

नहीं था। धीरे-धीरे उसे इस बात का बोध होने लगा था कि उसका जीवन दुःखी है, लेकिन इस बोध को भी वह यथा सम्भव टालने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन अब वह जीवन के भार से दबा जा रहा था।

जब किसी समस्या का हल मनके सबोध स्तर पर नहीं हो पाता, तब क्या अबोध मन उस समस्या को हाथमें लेकर उसके समाधान में मदद कर सकता है? सबोध मन और अबोध मन, ये कैसी चीजें हैं? सबोध मन और अबोध मन की भिन्नता दिखाने वाली क्या कोई निश्चित सीमा-रेखा है? जिसके आगे नहीं जा सकते, ऐसी कोई मर्यादा सबोध मन की है? क्या यह संभव है कि सबोध मन अपनी सीमा में ही अपने को सीमित करले? क्या अबोध मन सबोध मन से बिल्कुल भिन्न है? क्या ये दोनों एक-दूसरे से मेल नहीं खाते? जहाँ एक का कार्य समाप्त होता है, क्या वहीं दूसरे का कार्य प्रारम्भ होता है?

जिसे हम सबोध मन कहते हैं, वह आखिर है क्या? इसकी रचना किस प्रकार हुई है? यह समझने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि हम किसी समस्या का हल कैसे करते हैं। हममें से अधिकांश लोग समस्या का उत्तर ढूंढनेका प्रयत्न करते रहते हैं। हमारा ध्यान उत्तर पर रहता है, समस्या पर नहीं, हम निर्णय चाहते हैं। हम समस्या से बाहर निकलने का रास्ता ढूंढते हैं। समस्या के स्वरूप का बारीकी से निरीक्षण करने के बजाय हमारा प्रयत्न समस्या से छुटकारा पाने का रहता है। हम स्वयं समस्या का निरीक्षण नहीं करते, बल्कि कोई समाधानकारक उत्तर पाने की आशा में अंधेरे में टटोलते रहते हैं। हमारे सबोध मन को केवल समस्या का हल ढूंढने की, समाधानकारक निर्णय प्राप्त करने की ही चिन्ता रहती है। बहुत बार हमें सन्तोषप्रद उत्तर मिलता भी है और फिर हमें ऐसा लगने लगता है कि हमारी समस्या सुलझ गई है। वस्तुतः हम इतना ही करते हैं कि किसी निर्णय से, किसी सन्तोषदायक उत्तर से हम समस्या को केवल ढक देते हैं, लेकिन उस निर्णय के ढक्कने के नीचे भले ही समस्या तात्कालिक रूप से दम तोड़ती-सी दीखे, वह वास्तव में जीवित ही होती है। समाधान कारक उत्तर ढूंढने का मतलब वास्तव में समस्या को टालना ही है। जब मन को संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता, तब सबोध मन शोध करना छोड़ देता है। फिर तथाकथित अबोध मन—मन का वह सबोध स्तरअन्न को अपने हाथ में लेता है और उत्तर ढूंढ देता है।

स्पष्ट है कि सबोध मन समस्या से बाहर निकलने का मार्ग खोजता है। किसी संतोषजनक निर्णय तक पहुंचने का अर्थ ही मार्ग मिलना है, ऐसा समझते हैं। लेकिन क्या यह सबोध मन स्वतः ही नाना प्रकार के प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील निर्णयों से निर्मित नहीं होता है? फिर ऐसे मन को दूसरे किसी भी प्रकार का शोध लगाना क्या संभव भी है? यह सबोध मन अथवा समग्र मन का यह

ऊपरी स्तर, क्या नाना निर्णयों का संग्रहालय ही नहीं होता ? और पूर्वानुभवों की स्मृति और अतीत की घटनाओं का मन पर उत्कीर्ण आलेख—क्या यही निर्णयों का स्वरूप नहीं है ? निश्चय ही सबोध मन भूतकाल के द्वारा ही निर्मित होता है, वह भूतकाल पर ही आधारित होता है। स्मृति है मानो नाना निर्णयों के धागोंसे बुना हुआ वस्त्र। स्मृतियों अथवा निर्णयों के ऐसे चश्मे से सबोध मन समस्या की ओर देखता है। निर्णयों के चश्मे से समस्या की ओर देखना, समस्याका भली-भाँति निरीक्षण करना, निःशब्द रूपसे केवल समस्या की ओर तरल अवधान रहने देना यह सबोध मन के लिए संभव ही नहीं। उसे केवल निर्णयों को ही जानना है, फिर वे सुखद हों या दुःखद और यह सबोध मन इतना ही कर सकता है कि अधिकाधिक निर्णय, अधिकाधिक कल्पनायें और अधिकाधिक पक्की कल्पनात्मक ग्रन्थियों को अपने संग्रह में एकत्र करता रहे। इसका कोई भी निर्णय भीतर जमी कोई ग्रन्थि ही है। सबोध मन को अपरिहार्य रूप से कोई निर्णय खोज लेना है।

लेकिन जब कोई सन्तोषप्रद निर्णय इस सबोध मन को नहीं मिलता, तब वह खोज करना छोड़ देता है और इस प्रकार वह शान्त और निस्तब्ध बनता है। और फिर ऊपर से निस्तब्ध बने हुए मन में अबोधमन धीरे से समस्या का उत्तर सुझाता है। हम अब यह देखें कि यह अबोधमन, यह गहन मन उस सबोधमन की अपेक्षा क्या कुछ भिन्न होता है। क्या यह अबोधमन भी वंशपरम्परागत, सामूहिक और सामाजिक स्वरूप के निर्णयों से और स्मृतियों से निर्मित नहीं होता ? निश्चय ही यह अबोधमन भी पूर्वानुभवों का और गतकाल का ही परिणाम होता है। यह अबोधमन केवल भीतर नीचे के स्तर पर दबा हुआ होता है। और ऊपर के स्तर पर उछलकर आने के लिए दबाव से भरा रहता है। मौका मिलते ही भीतर दबे हुए निर्णयों को वह ऊपर के स्तर पर उछाल देता है। वे निर्णय यदि सन्तोषप्रद लगे तो ऊपर का सबोधमन उन्हें स्वीकार करता है, अन्यथा यह ऊपरी मन उतावला होकर दौड़-धूप करने लगता है और सोचने लगता है कि किसी भी चमत्कार से हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिल जायेगा। यदि उत्तर नहीं मिलता तो वह विवश होकर समस्याओं में ही घुलता रहता है। धीरे-धीरे वह भीतर से खोखला हो जाता है। फिर वह या तो किसी बीमारी में फँस जाता है अथवा उसे पागलपन घेर लेता है।

ऊपर का सबोधमन और नीचे का अबोध मन, ये वस्तुतः विसदृश नहीं होते। मन के ये दोनों स्तर पिछली स्मृति और पिछले निर्णयों से ही निर्मित होते हैं। दोनों ही गतकाल के परिणाम हैं। समस्या का कोई समाधान या निर्णय ये दे सकते हैं, परन्तु समस्या का सम्पूर्ण विसर्जन करना उनके वश की बात नहीं। समस्या का विसर्जन तभी होता है जब मन के ये दोनों स्तर शान्त और निस्तब्ध होते हैं और अपने प्रवृत्तिशील और निवृत्तिशील निर्णय सामने करना छोड़ देते हैं। जब सम्पूर्ण मन अतिशय निस्तब्ध बनता है, जब वह रुचि-अरुचि रहित समस्या का अवधान रखता है तभी समस्या से सम्पूर्ण मुक्ति होती है। क्योंकि उस स्थिति में समस्या उत्पन्न करने वाला वह भाव रहता ही नहीं। ❁

तद्धाम परमं मम

❀ स्वामी निर्विकारानन्द सरस्वती

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'परमधाम' के विषय में निर्देश किया है—

न तद्भासयते सूर्यो न,
शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते,
तद्धाम परमं मम ॥

—गीता १५/६

'जहाँ पर अग्नि एवं चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच पाता और जहाँ पर पहुँच जाने पर फिर से पुनरागमन नहीं होता वह धाम मेरा परमधाम है।'

महाभारत में लिखा है कि जब गरुड़जी इन्द्र-लोक में अमृत लेने गये, तब उन्हें एक-एक तत्त्व का आवरण पार करना पड़ा था। अर्थात् जिस लोक में है तो पाँचों तत्त्व, किन्तु भूतत्त्व की विशेषता है, उसका नाम 'भूलोक' पड़ गया। अब इसके ऊपर गतिमान होने पर एक घेरा ऐसा आता है कि जहाँ पर चार ही तत्त्व हैं, किन्तु वहाँ पर जलतत्त्व की विशेषता है। इसी घेरे में पहुँचने के पहले एक बहुत मोटा कुहरे का घेरा पार करना पड़ता है। तीन तत्त्व वाला आवरण है, उसमें अग्नि तत्त्व की विशेषता है। फिर दो तत्त्व वाला घेरा आता है, जिसमें वायु तत्त्व की विशेषता रहती है, तब अन्त में शुद्ध आकाश-तत्त्व का घेरा आता है। इसमें दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं रहता। इस घेरे के बाद भी अहंकार का आवरण और फिर ज्ञान का आवरण आता है। तब चिरजानन्द का "चतुर्दिक् मण्डलाकार" घेरा आता है। उसी घेरे के भीतर शुद्ध चिन्मय दिव्य तत्त्व से परिवेष्ठित 'परम धाम' आता है, जिसके भीतर करोड़ों सूर्य के प्रभाव वाले परात्पर ब्रह्म विलसित हो रहे हैं। जो भक्त अनन्य उपासना द्वारा परात्पर ब्रह्म की सेवामें पहुँच जाते हैं, उनका फिर पुनरागमन नहीं होता है; किन्तु परमधाम को छोड़कर और जितने भी अन्यान्य लोक हैं, वहाँ पर पहुँचे हुए प्राणियों को पुण्य भोग होने के पश्चात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—पुनः इसी मृत्युलोक में लौटना पड़ता है; क्योंकि ये सभी लोक किसी-न-किसी तत्त्व वाले घेरे में ही रहते हैं। इन लोकों में जो देह प्राप्त होती है, उसमें भी तत्त्व विशेष रहता है। इसीलिए उसमें पुण्य भोगने की क्षमता रहती है।

'परमधाम' कितनी दूर है, थोड़ी सी इसकी कल्पना करली जाय, तब अन्य बातों पर विचार किया जाय। जिस सूर्य मण्डल में हमारी पृथ्वी निवास करती है उस सूर्य की किरण जिस तरह मृत्यु लोक की ओर आती है, उसी तरह उतनी ही दूरी तक ऊर्ध्व लोक की ओर भी जाती है। इस सूर्य से ऊर्ध्व की ओर जहाँ से इस सूर्य की किरणें समाप्त हो जाती हैं, वहाँ से इस सूर्य से भी हजार गुने बड़े सूर्य का मण्डल प्रारम्भ होता है। उस सौर-मण्डल का ऊपरी घेरा जहाँ पर समाप्त होता है और जिसके बाद प्रकृति के सभी सप्तावरण क्रमशः समाप्त हो जाते हैं, वहाँ परमधाम की सीमा प्रारंभ होती है कि जिसके विषय में श्री गर्ग-संहिता में लिखा है—"जहाँ

पर संसार का सबसे बड़ा सुख समाप्त होता है, वहाँ से परमधाम के सबसे बड़े दुःख की सीमा प्रारम्भ होती है।" अब विचार कर सकते हैं कि वहाँ की सीमा का सबसे बड़ा दुःख हमारे संसार के सबसे बड़े सुख को भी विलज्जित कर रहा है, वहाँ का सबसे बड़ा सुख कैसा होगा? इसीसे परमधाम के विषय में इस भौतिक मन, बुद्धि द्वारा कुछ भी विचार करना असंभव माना गया है। वहाँ का विषय अनुभवगम्य है। जब भजन करते-करते यह शरीर दिव्य हो जाता है, तब भगवत्कृपा से ही वहाँ का विषय कुछ-कुछ अनुभव किया जा सकता है।

चन्द्रलोक या सूर्यलोक तक चाहे २० लाख हार्सपावर या १०० लाख हार्सपावर के इंजिन वाला राकेट भले ही मानव को पहुँचाने में सफल हो जाय; किन्तु एक करोड़ हार्सपावर वाले इंजिन की भी बस की बात न होगी कि वह मानव को 'परमधाम' तक ले जा सके; क्योंकि जहाँ तक कोई तत्त्व होंगे, वहीं तक राकेट गतिमान हो सकते हैं। शुद्ध आकाश तत्त्व वाले घेरे में राकेट नहीं प्रवेश कर सकते; क्योंकि वहाँ पर वायु-तत्त्व भी नहीं है। तब आगे बढ़ना तो सर्वथा असंभव ही होगा। वहाँ पर तो अनन्य चिंतन करने वाले भक्तों को स्वयं भगवान् के पार्षद 'दिव्यविमान' से दिव्य स्वरूप प्रदान करके ले जाते हैं। जैसे श्री चक्रवर्ती दशरथ जी महाराज को दिव्य देह देकर 'दिव्य विमान' द्वारा लंका विजय हो जाने पर श्री रामजी पुनः भेंट कर लेने के बाद ले गये थे। परमधाम में परिकर बनकर वहीं सेवा करनी सुलभ होती है कि जो सेवा भक्त यहाँ पर करना पसन्द करता है। इसी से अनन्य भक्त मोक्ष नहीं चाहता; क्योंकि मोक्ष में रावण, कुम्भकर्ण और शिशुपाल की ज्योति, जैसे भगवान में सबके देखते-देखते विलीन हो गयी, वैसे ही ज्ञानी का आत्मा भी विलीन हो जाता है।

हम अपने भारत वर्ष में रहकर जिस तरह आकाश में अनन्त लोक देखते हैं, ठीक उसी प्रकार अमेरिका वाले भी अपनी ओर के आकाश में अनन्त लोक चमकते हुए देखते हैं। जिस भूलोक में हमारा भारत वर्ष है, वह भूलोक अनन्त ब्रह्माण्डों के ठीक मध्य में है। अनन्त ब्रह्माण्ड उस परम धाम के मध्य में (उदर में) ठीक उसी प्रकार से हैं, जैसे अमरूद के फल में हजारों बीज होते हैं। हमारे प्रथम ब्रह्माण्ड (भूलोक) के चतुर्दिक् अनन्त ब्रह्माण्ड हैं एवं अनन्त ब्रह्माण्डों के चतुर्दिक् 'सप्तावरण' के घेरे को पार करने पर परमधाम परिव्याप्त है। उसी परमधाम को नित्यधाम वैकुण्ठ, साकेत और गोलोकधाम आदि भी कहते हैं। श्री जनकपुर, अयोध्या, काशी, चित्रकूट अवध, नीलाचल, पण्ढरपुर, द्वारका, रामेश्वरम, बद्रीनारायण, कैलाश, वृन्दावन, मथुरामण्डल—ये सभी मण्डल 'परमधाम' में ही विलसित हो रहे हैं। भूतल में भी वहाँ से इनका अवतरण होता है।

मृत्यु लोक में रहकर चाहे कोई भारत-

वर्ष में 'परमधाम' के प्रतिनिष्ठा रखकर उपासना करे और चाहे अमेरिका में रहकर उपासना करे, दोनों ही भक्तों का जब प्राण निकलेगा, तब उसको सीधे परमधाम में ही जाना होगा जिस प्रकार भारत वाला भक्त सीधे ऊर्ध्व की ओर गमन करेगा, उसी प्रकार अमेरिका वाले को भी अपने यहाँ के ऊर्ध्व लोक की ओर ही गमन करना पड़ेगा। वह पृथ्वी को बेधकर हमारे भारत वाले ऊर्ध्व-लोक होकर परमधाम नहीं जायेगा। राम-चरित मानस में श्री काकभुशुण्डि जी ने बत-लाया है कि "हमने भगवान् राम के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड देखे हैं।"

चूँकि भगवान् में और धाम में कोई अन्तर नहीं है, अस्तु-परमधाम के हृदय में ही अनन्त ब्रह्माण्ड ठीक वैसे ही भरे हुये एक दूसरे के आकर्षण में चिपके हुए हैं, जैसे समुद्र में जल के भीतर अनन्त जीव भरे रहते हैं।

तभी तो कृष्ण भगवान् ने कहा है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' अर्थात्—जो मुझे सर्वत्र सबमें देखता है और सबको मुझमें देखता है; वही वास्तव में मुझे देखता है और उससे मैं कदापि नहीं छिपा रह सकता।'

श्री भगवान् की तरह भगवत्धाम भी दिव्य है, असीम है और अनन्त ब्रह्माण्डों में चतुर्दिक् परिव्याप्त है। हमारा भूलोक तो परमधाम के ठीक हृदय-मध्य में है, जिसमें भारतवर्ष आया है। इस भूलोक का वास्त-विक नाम है—प्रथम ब्रह्माण्ड। कल्प के प्रारम्भ में जब परात्पर ब्रह्म के हृदय से आह्लादिनी शक्ति का प्राकट्य होता है और लीला विलास हेतु उनसे तीन शक्तियाँ प्रकट होती हैं—यथा क्रम से युगल सरकार के 'दिव्य संग्रह' से अनन्त सखा एवं सखी, परि-कर समूह 'मानवी सृष्टि' के रूप में प्रकट होते हैं तो सर्वप्रथम आँख मिचौनी खेल प्रारम्भ करने के हेतु से परमधाम के ठीक मध्य में प्रथम ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। स्वयं भगवान् छिपते हैं और अनन्त परिकर खोजते हैं। भगवान् क्रमशः ८४ लाख योनियाँ धारण करते हुए अपने परिकरों के ही सामने से निकलते हैं, परन्तु कोई उन्हें पहचान नहीं पाते, वे धीरे-धीरे उन विभिन्न स्वरूपों में ही भ्रमित हो जाते हैं एवं मनोरंजन रूप में उन्हें पकड़-पकड़ कर पालने-पोसने लग जाते हैं। इस तरह दिव्य देहधारी परिकर भी मोह एवं भ्रम में पड़कर भगवान् को खोजना बन्द कर देते हैं। और विवाह करके मैथुनी सृष्टि का विस्तार करने लग जाते हैं।

इसी से रामायण में कहा गया है—

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहुकाल करिअ सतसंगा॥

—मानस ७-६०-२

जब तक मोह और भ्रम का निवारण नहीं होगा, तब तक हम इस विकारी शरीर को ही अपना स्वरूप माने रहेंगे, यही कहलायेगा 'भ्रम'। अन्यथा हमारा स्वरूप तो दिव्य है, परन्तु हम भ्रम में पड़कर अपने को भौतिक विकारी शरीर मान बैठे हैं। वैसे वस्तुतः हम

स्कन्द पुराण के आधार पर—

महायोगी गुरु गोरखनाथ

गुरु गोरखनाथ का जीवन-चरित्र स्कन्द-पुराणान्तर्गत भक्ति विलास के ५१-५२ अध्यायों में साङ्गोपाङ्ग वर्णित है। वे योग-विद्या के मर्मज्ञ और आचार्य थे। योगिराज गोरखनाथ 'शिवावतार' कहे जाते हैं। वे अपनी योग-सिद्ध देह में अमर हैं। उनका प्राकट्य एवं योगमय चरित दिव्य है। उनके जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता, गोत्र आदि के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ, जनश्रुतियाँ तथा अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, पर सबके मूल में विशेष बात यह है कि उनकी उत्पत्ति किसी गर्भ से नहीं हुई थी, अपितु वे अयोनिज शिव गोरक्ष के रूप में स्वयं अवतरित हुए थे।

शिव गोरक्ष महायोगी गोरखनाथ यद्यपि शिव स्वरूप थे, तथापि उन्होंने लोक दृष्टि में श्रद्धापूर्वक श्रीमत्स्येन्द्रनाथ से योगदीक्षा ग्रहण कर नाथ योग का विस्तार किया। आप हठयोग के प्रणेता और आचार्य हैं। आपकी जीवनचर्या कठोर साधना, अप्रतिम संयम और तपस्या के तेज से दीप्तिमान थी। मात्र नाथसम्प्रदाय में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत एवं अनेक देश-देशान्तरों में भी आपकी ख्याति व्याप्त थी।

श्रीभगवान् के ही दिव्य-सनातन अंश हैं, फिर भी पिता, पुत्र, स्त्री, माता इत्यादि गृहस्थी के मिथ्या मोह में फँसकर हम अपने तथा भगवान् के दिव्य सम्बन्धों को भूल गये हैं और झूठी क्षणिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों से ही हमने अपना नाता जोड़ लिया है अन्यथा हम सभी प्राणी उसी परमधाम के सनातन निवासी हैं और उसी परात्पर ब्रह्म के हम दिव्य अंश हैं। हमारा प्रथम स्वरूप भी दिव्य था एवं अनन्य भक्ति करते-करते परमधाम जाते समय भी हमें दिव्य स्वरूप प्राप्त हो जायेगा। इस बीच वाले पञ्च-भौतिक देह को भी यहीं छोड़ जाना पड़ेगा। हम हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
—मानस ७/११६/१

श्रीभगवान् ने भी यही बताया है कि 'सारा संसार हमारे एक अंशमात्र में स्थित है। ठीक उसी प्रकार जैसे शरीर के एक अंशमात्र के भीतर से ही प्रकट होने वाले तिल' का दाग स्थित रहता है, हम भी भगवान् के अंश हैं और भगवान् में स्थित हैं।' अस्तु—यदि भगवान् अपने परमधाम में निवास करते हैं, तो हम भी वहीं के मूल निवासी हैं और उन्हीं परम प्रभु की अनन्य भक्ति द्वारा कृपा प्राप्त करके परमधाम में निवास करने का अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

श्री गोरखनाथ परम ज्ञानी और परम-सिद्धयोगी थे। अपनी अद्भुत योग साधना के बल पर आपने परमब्रह्म, परम ज्योति का साक्षात्कार किया और स्वयं तद्रूप (शिवरूप) हो गये थे। लोक में आपकी सिद्धियों के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। आपने अनेक राजा-महाराजाओं को योग दीक्षा देकर इस दुःखमय भव सागर से उबारकर परमपद का भागी बना दिया था। आप संस्कृत-विद्या के प्रौढ़ विद्वान् और आचार्य थे। 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति', 'विवेक-मार्तण्ड', 'गोरक्ष-संहिता', 'दत्तगोरक्ष-गोष्ठी' आदि अनेक ग्रन्थ और योग-शास्त्र आपकी ज्ञान-गुणगरिमा की महिमा का विस्तार कर रहे हैं। आप श्री विद्या के परमाचार्य तथा आद्याशक्ति भगवती पराम्बा के परमप्रिय भक्त एवं अनुगत कृपा पात्र थे। भगवती के कृपा प्रसाद से अनेक दुर्लभ सिद्धियाँ आपके हस्तगत थीं। १३ वीं शती ई० के भारत के मूर्धन्य एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'श्रीविद्यार्णव' ग्रन्थ में गोरखनाथ की मानवौघ के मध्य सिद्ध गुरुओं में गणना की है। १८ वीं शती के प्रारम्भ में श्री विद्या के सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वान् भास्करराय भारती ने भी 'सेतुबन्ध' आदि अनेक ग्रन्थों में गुरु गोरखनाथ की चर्चा की है।

नाथ-सम्प्रदाय के अनेक योगियों के मतानुसार ऐसी लोककथा प्रसिद्ध है कि एक बार महायोगी गोरखनाथ उत्तराखण्ड हिमालय के अनेक तीर्थों और रमणीय स्थानों में भ्रमण करते हुए कांगड़ा में वर्तमान ज्वालादेवी के स्थान पर पहुँचे। वहाँ उनके स्वागतार्थ ज्वालामुखी पर्वत में ज्वालादेवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने गोरखनाथजी से अपने स्थान पर आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। वे उन्हें अपने हाथ से भिक्षा कराना चाहती थीं। तब गोरखनाथजी ने बड़ी प्रसन्नता और विनम्रता से कहा—'माँ! आप करुणामयी हैं, कृपानिधि हैं, अन्नपूर्णा हैं। सभी प्राणी आपके अनुग्रह और प्रसाद से तृप्त होते हैं। आपकी इच्छा न होते हुए भी इस स्थान पर अज्ञानी लोग तामसिक पदार्थ आपको (बलिरूप में) समर्पित करते हैं, फिर भी आप उन्हें क्षमा कर देती हैं—यह आपकी परमोदारता और परम कृपालुता है। माँ! क्षमा करें, यहाँ मेरे लिए आहार-ग्रहण करना सम्भव नहीं दीखता। देवी बोली—गोरखनाथ! मैं तुम्हारी रुचि के अनुसार वही सात्त्विक पदार्थ जो तुम चाहते हो, स्वयं अपने हाथ से बनाकर खिलाऊँगी। तुम्हें मेरा निमन्त्रण स्वीकार करना होगा।' गोरखनाथजी ने माँ का निमन्त्रण स्वीकार कर कहा कि 'मैं खिचड़ी के लिए चावल की भिक्षा माँगने जा रहा हूँ।' उन्होंने अपनी झोली में से एक चुटकी—कुछ कणमात्र भभूत निकालकर उसे फेंकते हुए जल पर डाल दिया। जल तुरन्त ठण्डा हो गया। वह जल आज भी ठण्डा ही है, पर उबलता प्रतीत होता है। ज्वालादेवी की आज्ञा लेकर गोरखनाथजी ने चावल के भिक्षार्थ प्रस्थान किया।

योग साधन आश्रम ऋषिकेश का—

वार्षिक अधिवेशन धूम-धाम से सम्पन्न

(हमारे अपने प्रतिनिधि द्वारा)

ऋषिकेश स्थित योग-साधन आश्रम का वार्षिक महोत्सव गत ५-६ व ७ जून सन् १९८७ ई० तदनुसार ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी और दशमी को श्रद्धेय सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की अध्यक्षता में बड़े ही हर्षोल्लास पूर्ण वातावरण में बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। श्री गुरुदेवजी महाराज महोत्सव की तैयारी और उसकी संचालन व्यवस्था हेतु कई सप्ताह पूर्वसे ही अपने आज्ञानुवर्ती ब्रह्मचारियों और योग प्रचारकों की सुविख्यात मण्डली के सदस्यों के साथ बम्बई आश्रम से चल कर वहाँ आ विराजे थे। महोत्सव का अन्तिम दिन गंगा दशहरा का दिन होता है, इसलिए पर्व पर गंगा स्नान का लाभ गुरु-दर्शन और अमूल्य योगोपदेश का भी लाभ इस महोत्सव में शामिल होने वाले गुरु-भाई बहिनों को सहज ही मिल जाता है इसलिए वे सब भारी संख्या में यहाँ पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। श्री गुरुदेवजी इसी दृष्टि से ऋषिकेश पहले पहुंच कर अपने आश्रम की समीपवर्ती धर्मशालाओं और आवासगृहों को आगन्तुकों के निवासार्थ रिजर्व करा लेते हैं आगन्तुकों की भीड़ इस बार पूर्वापेक्षा अधिक ही रही। फिर भी सबको निवास की सुविधायें रहीं।

प्रत्येक दिन की कार्यवाही का शुभारम्भ प्रभुजी की सामूहिक आरती एवं गुरुवन्दना के गायन के उपरान्त पूज्य श्री गुरुदेवजी के योगपरक व्याख्यान से होता रहा।

अपने प्रथम दिन के भाषणमें श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज ने आनन्दकन्द योग तुरी का परिचय दिया और उनकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि नैनालधाम से उनके यहाँ आने का कारण केवल मात्र यही था कि वे अपने संस्कारी आत्माओं को जो जन्म-जन्मान्तरों से उनसे सम्बन्धित रहे हैं उन्हें चेतावनी देकर योग के उच्चतम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाकर उनका कल्याण कर सकें। एक मात्र यही लक्ष्य था। हुआ भी ऐसा ही

(शेष टाइटिल पृष्ठ ३ पर पढ़ें)

वे भ्रमण करते हुए इरावती (राप्ती) नदी के तट पर गोरखपुर पहुंच गये और वहीं एकान्त रमणीय स्थान पर उनकी खिचड़ी (जलाशय) का जल आज भी उबल रहा है।

ज्वालादेवी द्वारा प्रसन्नतापूर्वक गोरख-नाथजी से आतिथ्य सत्कार ग्रहण करने की हार्दिक सत्प्रेरणा और गोरखनाथजी द्वारा सात्विक प्रसाद ग्रहण की अभिरुचि का वृत्तान्त गोरखनाथजी की असाधारण योग-सिद्धि का गौरवमय सांस्कृतिक इतिहास है, जिसमें ज्वालादेवी के स्थान (शक्ति प्राकट्य-स्थल) और गोरखनाथजी की पुण्य तपःस्थली गोरखपुर का शाश्वत् अखण्ड सम्बन्ध सुर-क्षित है।

पृष्ठ ४८ से आगे—ऋषिकेश आश्रम समाचार

उन्होंने ऋषिकेश में इस आश्रम की स्थापना की। सवाई आश्रम की धरती को अपने लीला चरित्रों से प्रभावित किया तथा उत्तर भारत और दक्षिण भारत के क्षेत्रोंमें घूम-घूम कर योग का व्यापक प्रचार किया। योग चिकित्सा के रहस्यों को समझा कर स्वस्थ सबल और दीर्घजीवी बनाने के अनमोल परामर्श दिये और शक्तिपात् द्वारा अनेकों का कल्याण करके उन्हें इसी जीवन में समाधि प्राप्ति के गूढ़तम रहस्यों को समझा कर परम निःश्रेयस के पथ का अनुगामी बनाया।

श्री गुरुदेवजी ने प्रभुजी के इस धराधाम पर आने के उद्देश्यों के प्रसंग में यह भी बताया कि प्रभुजी ने रोग निवृत्ति तथा शरीर को स्वस्थ व दीर्घजीवी बनाने के लिए जैसे जीवन तत्व साधन दिया उसी प्रकार यौवनतत्व और फलतत्व जैसे साधन भी लौकिक और आध्यात्मिक सिद्धि के लिए उद्घाटित किये। कैसे ये तीनों साधन अभ्यास की कसौटी पर उतार कर अपनाये जा सकते हैं यह भी बड़े सुन्दर और सुबोध ढंग से गुरुदेव ने बताया।

श्री महाराज जी के परम प्रिय शिष्य हिमालय के सुविख्यात योगी श्री हरिभक्त चैतन्य जी के प्रवचन भी नियमितरूप से दोनों दिन होते रहे। योगी श्री चैतन्यजी गूढ़तम योग सिद्धान्तों को सहजतया समझाने की कला में दक्ष हैं। हर कोई श्रोता आपके भाषण को ध्यान से सुनने समझने में तन्मय होकर बैठा रहता है, कुछ अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार योग सिद्धांतों पर प्रकट किए।

दोपहर बाद विशेष रूप से महिला सत्संग का कार्यक्रम व्यवस्थित ढंग से चलता रहा इस कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री महाराजजी की परमशिष्या, तथा योगसिद्धान्तों को सरल सुबोध ढंग से संगीत कला तथा प्रवचन दोनों ही के द्वारा समझा देने की कला में निष्णात विदुषी बहिन उमा शर्मा ने की। आश्रम महोत्सव का यह महिला सत्संग का संगीतमय कार्यक्रम भी अपने ढंग का अनुपम ही होता है। इसमें शामिल होने के लिए झाँसी, आगरा शामली, सवाई, साहरनपुर आदि से पहुंची संगीत मण्डलियों ने भी अपना महत्वपूर्ण योग-दान दिया।

सुश्री बहिन उमा शर्मा ने उपसंहार रूप में श्री प्रभुजी के नर्मदा तट भ्रमण के कथा प्रसंग सुनाते हुए उनकी योगशक्ति का परिचय दिया। रात्रि समय में विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बच्चों ने सराहनीय प्रस्तुति की तथा गंगा दशहरे के दिन इस कार्यक्रम का जो विशाल जुलूस नगर के विभिन्न बाजारों में होते हुए निकलता है एवं जिसमें प्रभुजी के स्वरूप के अतिरिक्त अनेक आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाली झाँकियाँ निकाली जाती हैं, यह भी अत्यन्त सराहनीय रहा। प्रभुजी के भव्य स्वरूप के साथ श्री महाराजजी स्वयं आसन पर विराजमान होकर जुलूस की शोभा बढ़ाते हैं। झाँसी के श्री श्रीकृष्णदत्त झा का तबला वादन तथा श्रीमती आशारानी के गायन भी सराहनीय रहे तथा अन्य संकीर्तन मण्डलों के कार्यक्रम भी उत्साह वर्धक रहे।

गंगादशहरा के अन्तिम दिन ही इस कार्यक्रम का समापन हुआ एक विशाल वेदपाठी ब्राह्मणों के सहभोज और भंडार के साथ। सामूहिक रूप से इस अवसर पर किया जाने वाला वेदपाठ एक प्रभावशाली आध्यात्मिक वातावरण का सृजन करने में सहायक बनता है।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Aug. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (रसूलपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❀❀❀—

श्री ....

....

....

....

विश्वास करें

विश्वास इस संसार का सबसे अद्भुत जादू है। विश्वास पर ही यह सारा संसार खड़ा है। यदि विश्वास की शक्ति न रहे, तो मानव-जाति एक-दूसरे से लड़-लड़कर समाप्त हो जायगी। एक चोर को भी अपने साथी चोर पर विश्वास करना पड़ता है। यदि हम इस विश्वास पर विश्वास करके उसकी शक्ति को पहचान सकें और तदनुसार बरत सकें, तो दुनिया के झगड़े मिटने में देर न लगेगी। आज की दुनिया के झगड़ों का सबसे बड़ा कारण अविश्वास है। हमें यही अविश्वास मिटाना है।

—आचार्य विनोबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, ... राजगंज, आगरा-1 फोन ...